प्रकाशक—
आगमोद्धारक ग्रंथमाला के एक कार्यवाहक
शा. रमणलाल जयचन्द
कपड़वंज (जि० खेड़ा)

द्रव्य सहायक—
७५९) श्री ऋषभदेवजी छगनीरामजी की पेढ़ी, उज्जैन.

पुस्तक—प्राप्ति स्थान:—
१. श्री जैनानन्द पुस्तकालय, गोपीपुरा, सुरत ।
२. श्री ऋषभदेवजी छगनीरामजी की पेढ़ी खाराकुआ उज्जैन

किञ्चिद् वक्तव्य ।

सुज्ञ विवेकी पाठकों के समक्ष जीवन के स्तर को ऊंचा उठाकर धर्माराधना के अनुकूल जीवन को बनाने वाले उत्तम इक्कीस गुणों के वर्णन-स्वरूप श्री धर्म-रत्न प्रकरण (हिन्दी) का यह प्रथम भाग प्रस्तुत किया जा रहा है।

वैसे तो यह ग्रंथरत्न खूब ही मार्मिक धर्म की व्याख्याओं से एवं आराधना के विविध स्वरूपों से भरपूर है, फिर भी प्रारंभ में भूमिका-स्वरूप इक्कीस गुणों का हृदयंगम वर्णन कथाओं के साथ किया गया है। इस चीज को लेकर बाल जीवों को यह ग्रन्थ अत्युपयोगी है।

इसी चीज को लक्ष्य में रखकर आगमसम्राट बहुश्रुत ध्यानस्थ स्वर्ग आचार्य श्री आनन्दसागर सूरीश्वरजी म. के सदुपदेश से वि० सं० १९८२ के चतुर्मास में वर्तमान गच्छाधिपति आचार्य श्री माणिक्यसागरसूरीश्वरजी के प्रथम शिष्य मुनिराज श्री अमृतसागरजी म० के आकस्मिक काल-धर्म के कारण उन पुण्यात्मा की स्मृति निमित्त "श्री जैन-अमृत-साहित्य-प्रचार समिति" की स्थापना उदयपुर में हुई थी। जिसका लक्ष्य था

विशिष्टपंक्तियों को हिन्दी में [illegible] प्रस्तुत किये जायें। तदनुसार [illegible] (हिन्दी) एवं [illegible] (हिन्दी) का [illegible] था, और प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद [illegible] रह गया था। उसे पूज्य [illegible] की कृपा से संशोधित कर पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ में प्रत्येक गुण पर अनूठे ढंग से रोचक शैली एवं उदात्त प्रतिपादना के द्वारा विशिष्ट कथाएं विषय को पुष्ट करती हैं।

विवेकी आत्मा इसे विवेकबुद्धि के साथ पढ़कर जीवन को रत्नत्रयी की आराधना वास्ते परिकर्मित बनाकर परम मंगलमाला को प्राप्त कराने वाले धर्म की सानुबंध आराधना में सफल हों यह अन्तिम शुभाभिलाषा।

लि०
श्री श्रमण संघ सेवक
गणिवर श्री धर्मसागर चरणोपासक
मुनि अभयसागर

प्रकाशकीय-निवेदन ।

प० पू० गच्छाधिपति आचार्य श्री माणिक्यसागर सूरीश्वरजी महाराज आदि ठाणा वि. सं. २०१० की साल में कपडवंज शहर में मीठाभाई गुलालचन्द के उपाश्रय में चतुर्मास वीराजे थे। उस वख्त विद्वान् बाल दीक्षित मुनिराज श्री सूर्योदयसागरजी महाराज की प्रेरणा से आगमोद्धारक-ग्रन्थमाला की स्थापना हुई थी। इस ग्रन्थमाला ने अब तक काफी प्रकाशन प्रगट किये हैं।

सूरीश्वरजी की पुण्यकृपासे यह 'धर्म-रत्न-प्रकरण' हिन्दी अनुवाद के पहिला भाग को आगमोद्धारक-ग्रन्थमाला के ३० वें रत्न में प्रगट करने से हमको बहुत हर्ष होता है।

इसका संशोधन प० पू० गच्छाधिपति आचार्य श्री माणिक्यसागरसूरीश्वर म० के तत्वावधान में शतावधानी मुनिराज श्री लाभसागरजी ने किया है। उसके बदल उनका और जिन्होंने इसके प्रकाशन में द्रव्य और प्रति देने की सहायता की है उन सब महानुभावों का आभार मानते हैं।

—लि० प्रकाशक

नमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ।

पू० आगमोद्धारक-आचार्य-श्रीआनन्दसागरसूरीश्वरेभ्यो नमः ।

आचार्यप्रवर-श्रीशान्तिसूरि विरचितं

धर्मरत्न-प्रकरणम् ।

(अनुवादसहित)

जैन ग्रंथकारों की यह शैली है कि प्रारम्भ में मंगलाचरण करना चाहिये. अतः टीकाकार प्रथम सामान्य मंगल करते हैं:—

ॐ नमः प्रवचनाय ।

टीकाकार का खास मंगलाचरण:

सज्ज्ञान-लोचन-विलोकित-सर्वभावं
निःसीम-भीम-भवकाननदाहदावम् ।
विश्वार्चितं प्रवरभास्वरधर्मरत्न—
रत्नाकरं जिनवरं प्रयतः प्रणौमि ॥१॥

सम्यग् ज्ञानरूप चक्षुद्वारा सर्वपदार्थों को देखने वाले, निःसीम भयंकर संसाररूप वन को जलाने के लिये दावानल समान, जगत्पूज्य, उत्तम और जगमगाते धर्मरूप रत्न के लिये रत्नाकर (समुद्र) समान, जिनेश्वर को (मैं) सावधान (हो) स्तुति करता हूं।

अब टीकाकार अभिधेय तथा प्रयोजन बताते हैं:—

विशेष अर्थवाले और स्वल्प शब्दरचनावाले श्री-धर्मरत्न-नामक शास्त्र को, स्वपर के उपकार के हेतु, शास्त्र के अनुसार किंचित् वर्णन करता हूँ।

अब टीकाकार मूलग्रंथकी प्रथमगाथा के लिये अवतरण लिखते

इस जगत में त्यागने व ग्रहण करने योग्य इत्यादि पदार्थ समझ रखने वाले जन्म-जरा-मरण तथा-रोग-शोकादि दुखों से पीड़ित भव्यप्राणी ने, स्वर्ग-मोक्षादि सुख संपदा का मूत कारणभूत सद्धर्मरूपी रत्न ग्रहण करना चाहिये।

उस (सद्धर्मरत्न) के ग्रहण करने का उपाय गुरुके उपदेश भली भांति नहीं जाना जा सकता और जो उपाय नहीं है प्रवृत्ति करनेवालों को इच्छित अर्थ की सिद्धि नहीं होती।

इसलिये सूत्रकार करुणा से पवित्र अन्तःकरण वाले हो धर्मार्थी प्राणियों को धर्म ग्रहण करने तथा उसका पालन व उपदेश देने के इच्छुक होकर सत्पुरुषों के मार्ग का अनुस प्रथम आदि में इष्ट देवता नमस्कार इत्यादि विषय प्रतिपाद के हेतु यह गाथा कहते हैं।

नमिऊण सयलगुणरयणकुलहरं विमलकेवलं वीरं
धम्मरयणत्थियाणं जणाण वियरेमि उवएसं ॥१

अर्थ:—सकल गुणरूपी रत्नों के उत्पत्ति स्थान समान केवलज्ञानवान् वीरप्रभु को नमन करके धर्मरत्न के अर्थी [illegible] उपदेश देता हूँ।

इस गाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा अभीष्ट देवता को नमस्क [illegible] विघ्न विनाशक [illegible] विघ्न की उपशान्ति के हे [illegible] बताया है, और उत्तरार्द्ध द्वारा अभिधेय कह बताया

सम्बन्ध और प्रयोजन तो सामर्थ्य गम्य है, अर्था [illegible] से ज्ञात होता है, वह इस प्रकार है।—

वहां सम्बन्ध, वह उपायोपेय स्वरूप अथवा साध्य साधन जानो, वहां यह शास्त्र (उसके अर्थका) उपाय अथवा साधन है, शास्त्रार्थपरिज्ञान उपेय अथवा साध्य है।

प्रयोजन तो दो प्रकार का है:—कर्ता का और श्रोता का. वह क पुनः अनन्तर और परंपरा भेद से दो प्रकार का है।

वहां शास्त्रकर्ता को अनन्तर प्रयोजन भव्यजीवों पर अनुग्रह ा यह है, और परंपर प्रयोजन मोक्ष प्राप्तिरूप है, जिसके लिये है कि:—

"सर्वज्ञोक्तोपदेशेन, यः सत्त्वानामनुग्रहम्।
करोति दुःखतप्तानां, स प्राप्नोत्यचिराच्छिवम् ॥१॥

सर्वज्ञोक्त उपदेश द्वारा जो पुरुष दुःख से संतप्त जीवों पर ग्रह करे वह थोड़े समय में मोक्ष पाता है।

श्रोता को तो अनन्तर प्रयोजन शास्त्रार्थ परिज्ञान है, और परं-प्रयोजन तो उनको भी मोक्ष प्राप्तिरूप है. कहा है कि:—

"सम्यक् शास्त्रपरिज्ञाना—द्विरक्ता भवतो जनाः।
लब्ध्वा दर्शनसंशुद्धिं, ते यान्ति परमां गतिम् (तु) ? ॥१॥

शास्त्र के सम्यक् परिज्ञान से संसार से विरक्त हुए पुरुष सम्य-त्व की शुद्धि उपलब्ध करके परमगति (मोक्षगति) पाते हैं।

नम कर याने प्रणाम करके, किसको ? याने वीर को, कर्म को दारण करने से, तप से विराजमान होने से, और उत्तम वीर्य से क्त होने से जगत् में जो वीर पदवी से प्रख्याति पाये हुए हैं, नसके लिये कहने में आया है कि:—

जिस हेतु से कर्मों को विदारण करते हैं, तप से विराजते हैं और तपवीर्य से युक्त हैं उसी से वीर नाम से स्मरण किये जाते हैं।

उन वीर को अर्थात् श्रीमान् वर्द्धमान स्वामी को—

कैसे वीर को? (यहां विशेषण देते हैं कि) 'सकलगुण-रत्न-कुलगृह' (अर्थात) सकल समस्त जो गुण—क्षांति मार्दव आर्जवादिक—वे ही भयंकर दारिद्र मुद्रा को गलाने वाले होने से वैसे ही सकल कल्याण परंपरा के कारणभूत होने से रत्नरूप में (मानेजाने से) सकल गुण रत्न (कहलाते हैं) उनके जो कुलगृह अर्थात् उत्पत्ति स्थान हैं, ऐसे वीर को—

पुनः कैसे वीर को— (यहां दुसरा विशेषण देते हैं कि) 'विमल-केवलं' अर्थात् विमल याने ज्ञान को ढांकने वाले सकल कर्म परमाणु रज के सम्बन्ध से रहित होने से निर्मल, केवल अर्थात् केवल नामक ज्ञान है जिनको वे विमलकेवल—ऐसे उन वीर को,

सम्बन्धक भूत कृदन्त का क्त्वा प्रत्यय उत्तरक्रिया की अपेक्षा रखने वाला होने से उत्तरक्रिया कहते हैं, (सारांश कि सकल गुण रत्न कुलगृह विमलकेवलज्ञानी वीर को नमन करके पश्चात क्या करने वाला हूं, सो बताते हैं।)

'वितरामि' अर्थात देता हूँ, क्या—'उपदेश'—कहना वह उपदेश अर्थात् हित में प्रवृत होने और अहित से निवृत होने के लिये जो वचन रचना का प्रपंच (गोठवणी) वह उपदेश,

किसको उपदेश देता हूँ? जनोंको—लोगोंको, कैसे जनों को? धर्मरत्न के अर्थियों को,

दुर्गति में पड़नेवाले प्राणियों को (पड़ते हुए) धारण करे और सुगति में पहुंचावे वह धर्म, जिससे कहा है कि:—

जिससे दुर्गति में पड़ते हुए जन्तुओं को उससे धर रखता है, और उनको शुभ स्थान में पहुंचाता है इससे वह धर्म कहलाया है।

वह धर्म ही रत्न माना जाता है—रत्न शब्द का अर्थ पूर्व वर्णन किया है, उस धर्मरत्न को जो चाहते हैं, वैसे स्वभाव वाले जो होते हैं वे धर्म रत्नार्थी कहलाते हैं, वैसे लोगों को—

मूल गाथा में प्राकृत के नियमानुसार चतुर्थी के अर्थ में छठी विभक्ति का उपयोग किया है, जिसके लिये प्रभु श्री हेमचन्द्रसूरि महाराज ने अपने प्राकृत व्याकरण में कहा है कि "चतुर्थी के स्थान में षष्ठी करना" इस प्रकार गाथा का अक्षरार्थ बताया,

भावार्थ तो इस प्रकार है:—

"नमस्कार" इस पूर्वकाल दर्शक और उत्तरकाल की क्रिया के साथ संबन्ध रखने वाले इस प्रकार स्याद्वादरूपी सिंहनाद समान-पद से एकान्त नित्य तथा एकान्त अनित्य वस्तु स्थापन करनेवाले वादी प्रतिवादीरूप दोनों हरिणों का मुख बंध किया हुआ है।

कारण कि एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य कर्ता पृथक् २ दो क्रिया नहीं कर सकते, क्योंकि पृथक् २ क्रिया होने पर कर्ता भी पृथक् २ हो जाते हैं, उससे दूसरी क्रिया करने के क्षण में कर्ता को या तो अनित्यता के अभाव का प्रसंग लागू पड़ेगा अथवा नित्यता के अभाव का प्रसंग लागू पड़ेगा, इस प्रकार दो प्रसंगों से एकान्त नित्यता तथा एकान्त अनित्यता का खंडन करना,

अब विशेषणों का भावार्थ बताते हुए चार अतिशय कहते हैं—

'सकलगुणरत्नकुलगृहं' इस पद से अंतिम तीर्थनायक भगवान् वीर प्रभु का पूजातिशय बताने में आता है, क्योंकि गुणवान् पुरुषों को दौड़ादौड़ से करने में आते प्रणाम के कारण

भवजलहिम्मि अपारे, दुलहं मणुयत्तणं पि जंतूणं।
तत्थवि अणत्थहरणं, दुलहं सद्धम्मवररयणं ॥२॥

(मूल गाथा का अर्थ)

अपार संसाररूप सागर में (भटकते) जन्तुओं को मनुष्यत्व (मिलना) भी दुर्लभ है, उस (मनुष्यत्व) में भी अनर्थ को हरने वाला सद्धर्मरूपी रत्न (मिलना) दुर्लभ है।

(भू धातु का अर्थ उत्पन्न होना होने से) प्राणी कर्मवश नारक तिर्यच-नर तथा देवरूप में उत्पन्न होते रहते हैं जिसमें उसे भव-संसार जानो वही भव-जन्म जरा मरणादिरूप जल को धारण करने वाला होने से जलधि माना जा सकता है, अब यह भवजलधि आदि और अन्त से रहित होने के कारण अपार याने असीम है उसमें 'भटक।' इतना पद अध्याहार करके जोड़ना है-(उससे यह अर्थ हुआ कि-अपार संसाररूप सागर में भटकते जन्तुओं को-

मनुजत्व-मनुष्यपन भी दुर्लभ-दुःख से मि
कहने का यह मतलब कि देश-कुल-जाति
मिलना दुर्लभ है यह बात तो दूर ही रही, पर
भी दुर्लभ है।

जिसके लिये जगत् के वास्तविक बन्धु श्री
ने अष्टापद पर्वत पर से आये हुए श्री गौतम म
नुसार) कहा है,--

" सर्व प्राणियों को चिरकाल से भी म
वास्तव में दुर्लभ है, कर्म के विपाक आकरे।
हे गौतम ! तू क्षणमात्र (भी) प्रमाद ।९९।

अन्य मतावलम्बियों ने भी

" अपार संसाररूप अरण्य में भटकता हुआ प्राणी (वहां) अगे हुए दुःखरूप (तृणों को) जलाकर सुखरूप पाक के बीजरूप मनुष्यत्व को सचमुच कष्ट ही के द्वारा पा सकता है।"

" मनुष्यों में चक्रवर्ती प्रधान है, देवों में इन्द्र प्रधान है, पशुओं में सिंह प्रधान है, व्रतों में प्रशम-शान्तिभाव प्रधान है, पर्वतों में मेरु प्रधान है और भवों में मनुष्य भव प्रधान है।"

" अमूल्य रत्न भी पैसे के जोर से सहज में प्राप्त किये जा सकते हैं, परन्तु कोटि-रत्नों द्वारा भी मनुष्य की आयु का क्षण मात्र प्राप्त करना दुर्लभ है"

जन्तुओं को याने प्राणियों को—यहां भी अर्थात् मनुष्यपन में भी अनर्थ हरण याने अनर्थ अर्थात्-जिसको अर्थना-अभिलाषा न करे ऐसे दारिद्र तथा नीच उपद्रव आदि अपाय—उनका हरण हो-नाश हो जिसके द्वारा—वह अनर्थ हरण, वह क्या सो कहते हैं,—सत् -उत्तम अर्थात् पूर्वापर अविरोध आदि गुणगण से अलंकृत होने के कारण अन्यवादियों द्वारा कल्पित धर्मों की अपेक्षा से शोभन ऐसा जो धर्म वह सद्धर्म--अर्थात् सम्यक् दर्शनादिक धर्म-वह सद्धर्म ही शाश्वत और अनंत मोक्षरूप अर्थ का देने वाला होने से इस लोक ही के अर्थ को साधनेवाले अन्य रत्नों की अपेक्षा से वर याने प्रधान होने से सद्धर्म वररत्न कहलाता है वह दुर्लभ-दुष्प्राप्य है। (२)

मूल की तीसरी गाथा के लिये अवतरण.

अब इस अर्थ को उदाहरण सहित स्पष्ट करते हैं.

जह चिंतामणिरयणं, सुलहं न हु होइ तुच्छविहवाणं ।
गुणविहववज्जियाणं, जियाण तह धम्मरयणं पि ॥ ३ ।

(मूल गाथा का अर्थ)

समान यहां बहुत से विबुध जन (पंडितों) से युक्त, हरि (इसनाम के राजा) से रक्षित, सैकड़ों अम्बर (पानी के तालावों) से शोभित हस्तिनापुर नामक उत्तम नगर था।

वहां पुरुषों में हाथी समान उत्तम नागदेव नामक महान सेठ था, उसको निर्मल शीलवान् वसुंधरा नामक स्त्री थी।

उसका विनयवान् और उसीसे निर्मल बुद्धि को समृद्धि वाला जयदेव नामक पुत्र था। वह चतुर स्वभाव से चतुर होकर बारह वर्ष तक रत्न परीक्षा सीखता रहा।

जिस पर कोई हँस न सके ऐसे निर्मल, कलंक रहित और मनवांछित पूर्ण करने वाले चिन्तामणि रत्न के सिवाय अन्य रत्नों को वह पत्थर समान मानने लगा।

वह भाग्यशाली पुरुष उद्यमी होकर चिन्तामणि रत्न के लिये सम्पूर्ण नगर में हाटप्रतिहाट और घरप्रतिघर थाके विना फिर गया।

किन्तु वह उस दुर्लभ मणि को न पा सका, तब वह अपने मा बाप को कहने लगा कि मैं इस नगर में चिंतामणि नहीं पा सका तो अब उसके लिये अन्य स्थान को जाता हूँ।

उन्होंने कहा कि हे पवित्रबुद्धि पुत्र! चिंतामणि तो केवल कल्पना मात्र ही है, इसलिये जगत में कल्पना के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्थान में वह वास्तव में नहीं है।

अतएव अन्यान्य श्रेष्ठ रत्नों से ही जैसा तुझे अच्छा ज्ञान पड़े वैसा व्यापार कर, कि जिससे तेरा घर निर्मल लक्ष्मी से भरपूर हो जावे।

...हकर मा बापों के मना करने पर भी वह चतुर कुमार ...प्त करने के लिये दृढ़ निश्चय करके हस्तिनापुर से रवाना

वह नगर, निगम, ग्राम, आकर, खेड़े, पत्तन तथा समुद्र के किनारों में उस चिंतामणि ही को ध्यान में मन रख कर ढूंढता हुआ बहुत समय भटकता फिरा।

किन्तु वह कहीं भी उसके न मिलने से उदास होकर विचार करने लगा कि क्या 'वह है ही नहीं' यह बात सत्य होगी? अथवा 'शास्त्र में जो उसका अस्तित्व बताया है वह असत्य कैसे हो सकता है?

यह मन में निश्चय करके वह पुनः पूछ २ कर मणियों की अनेक खदाने देखता हुआ खूब फिरने लगा।

फिरते २ उसको एक वृद्ध मनुष्य मिला, उसने उसे कहा कि यहां एक मणीवती नामक मणि की खान है, वहां उत्तम पवित्र उत्तम मणि मिल सकती है।

तब जयदेव निरन्तर वैसी मणियों की शोध करने के लिये वहां जा पहुँचा, इतने में वहां उसे एक अतिशय मूर्ख पशुपाल मिला।

उस पशुपाल के हाथ में जयदेव ने एक गोल पत्थर देखा, तब उसे लेकर उसकी परीक्षा कर देखते उसे चिंतामणि जान पड़ा।

तब उसने हर्षित हो उसके पास से वह पत्थर मांगा, तो पशुपाल बोला कि, इसका तुझे क्या काम है? तब उसने कहा कि घर जाकर छोटे बालकों को खिलौने के तौर पर दूंगा।

पशुपाल बोला कि ऐसे तो यहां बहुत पड़े हैं, वे क्यों नहीं ले लेता, तब श्रेष्ठि पुत्र बोला कि मुझे मेरे घर जाने की उतावल है।

इसलिये हे भद्र! तू यह पत्थर मुझे दे, कारण कि तुझे तो यहां दूसरा भी मिल जायगा, (इस प्रकार जयदेव के मांगने पर भी) उस पशुपाल को परोपकार करने की टेव ही न होने से वह उसने उसे नहीं दिया।

तब जयदेव ने विचार किया कि-जो भले ही यह रत्न इस का भला करे, परन्तु अफल रहे सो ठीक नहीं, इस प्रकार करुणावान् होकर वह श्रेष्ठि पुत्र उस पशुपाल से कहने लगा कि---

हे भद्र! जो तू यह चिंतामणि मुझे नहीं देता तो अब तू ही इसकी आराधना करना कि जिससे तू जो चिंतवन करेगा वह वह देगी।

पशुपाल बोला कि-भला, जो यह चिंतामणि है यह बात सत्य हो तो मैं चिंतवन करता हूं कि यह मुझे शीघ्र बेर, केर, कचुम्बर आदि फल देवे।

तब श्रेष्ठि पुत्र हँसकर बोला कि--ऐसा नहीं चिंतवन किया जाता, किन्तु (इसकी तो यह विधि है कि-) तीन उपवास कर अंतिम रात्रि के प्रथम प्रहर में लीपी हुई जमीन पर—

पवित्र बाजोट पर वस्त्र बिछा उस पर इस मणी को स्नान कराके चन्दन से चर्चित करके स्थापित करना, पश्चात् कपूर तथा पुष्प आदि से उसकी पूजा करके विधि पूर्वक उसको नमस्कार करना।

तदनन्तर जो कुछ अपने को इष्ट हो उसका चिंतवन करना ताकि प्रातः काल में वह सब मिलता है, यह सुनकर वह पशुपाल मूर्ख होते भी अपने छालिआ-बकरीयों वाले ग्राम की ओर चला।

हीनपुण्य के हाथ में वास्तव में (यह) मणिरत्न रहे।। नहीं ऐसा विचार कर श्रेष्ठि पुत्र ने भी उसका पीछा नहीं छोड़ा।

मार्ग चलते पशुपाल कहने लगा कि--हे मणि! अब इन बकरियों को बेचकर चन्दन, कपूर आदि खरीद कर (मैं) तेरा पूजा करूंगा।

अतएव मेरे मनोरथ पूर्ण करके तू भी जगत् में अपना नाम

क करना, इस प्रकार उसने मणि के सन्मुख कहकर पु नुसार कहा।

ाम अभी दूर है (तब तक) हे मणि! तू मेरे सन्मुख कु कह अगर तू नहीं जानती हो तो मैं तुझे कहता हूं, तू एकाग्र सून।

क हाथ का देवगृह है, उसमें चार हाथ का देव रहता है- बारंबार कहने पर भी मणि तो कुछ भी न बोली।

तने में वह गुस्सा होकर बोला कि--जो मुझको तू हुंकारा भी तो तो फिर मनवांछित सिद्ध करने में तेरा क्या आशा रखी ती है।

सलिये तेरा चिंतामणि नाम झूठा है अथवा वह सत्य ही है तेरे मिलने पर भी मेरे मन की चिन्ता टूटी नहीं।

र मैं जो कि रात्र और छांछ बिना एक क्षण भी नहीं रह हूं, वह मैं जो तीन उपवास करूं तो क्या यहां मर न

सीलिये उस वणिक ने मुझे मारने के लिये तेरी प्रशंसा की ड़ती है, अतएव जहां पुनः न दीख पड़े वहां चला जा ह उसने वह श्रेष्ठ मणि पटक दी।

स समय) श्रेष्ठि पुत्र जयदेव (जो कि पशुपाल के पीछे र ा रहा था) अपना मनोरथ पूर्ण होने से हर्षित होकर प्रणाम क चिंतामणि लेकर अपने नगर की ओर चला।

उस जयदेव ने चिंतामणि के प्रभाव से धनवान हो मार्ग ुर नामक नगर निवासी सुबुद्धि श्रेष्ठि की कन्या रत्नवती ह किया तथा बहुत से नौकर चाकर साथ में ले चलता हुआ गों से प्रशंसित होता हुआ वह अपने हस्तिनापुर नामक आकर मा बाप के चरण में पड़ा।

तब मा बाप ने उसे आशीर्वाद दी और स्वजन सम्बंधियों ने उसका सन्मान किया, तथा नगर के लोगों ने उसकी प्रशंसा की. इस प्रकार वह भोग भाजन हुआ।

इस दृष्टान्त का खास तुलना यह है कि—अन्य याने सामान्य मणियों की खान समान देव-नारक-तिर्यंच रूप गतियों में भटकते हुए जैसे तैसे करके जीव इस उत्तम मणि वाली खानसमान मनुष्य गति को पा सकता है, और इसमें भी चिंतामणि के समान जिन भाषित धर्म पाना (बहुत ही) दुर्लभ है।

य जैसे सुकृत नहीं करने वाला पशुपाल उक्त मणि रख न सका परन्तु पुण्यरूप धनवान वणिक पुत्र उसको प्राप्त कर सका, वैसे ही गुणरूप धन से हीन जीव यह धर्मरत्न पा नहीं सकता, परन्तु सम्पूर्ण निर्मल गुणरूप बहुत धनवान (ही) उसको पा सकता है।

यह दृष्टान्त भलीभांति सुनने के बाद जो तुम्हें सद्धर्मरूप धर्म ग्रहण करने की इच्छा हो तो अपार दरिद्रता को दूर करने में समर्थ सद्गुण रूपी धर्म को उपार्जन करो।

इस प्रकार पशुपाल की कथा है, और इस प्रकार (गाथा का अर्थ पूर्ण हुआ.)।

(अब चौथी गाथा का अवतरण करते हैं:—

अब कितने गुण वाला होवे जो धर्म पाने के योग्य हो? यह प्रश्न मन में लाकर उत्तर देते हैं:—

इगवीसगुणसमेओ, जुग्गो एयस्स जिणमए भणिओ।
तदुवज्जणंमि पढमं, ता जइयव्वं जओ भणियं ॥ ४ ॥

अर्थ—इक्कीस गुणों से जो युक्त होवे वह सबसे प्रथम इस धर्मरत्न के योग्य माना जाता है, ऐसा जिन शासन में कहा है, अतएव

उन इक्कीस गुणों को उपार्जन करने का यत्न करना चाहिये जिसके लिये पूर्वाचार्यों ने आगे लिखे अनुसार कहा है।

ये इक्कीस गुण जो कि आगे कहे जावेंगे उनसे (जो) समेत याने युक्त हो अगर पाठान्तर में ('समिद्धो' ऐसा शब्द लें तो उसका यह अर्थ होता है कि-) समृद्ध याने संपूर्ण होवे अथवा समिद्ध याने देदीप्यमान हो-वह इस को याने प्रस्तुत धर्मरत्न को योग्य याने उचित, जिनमत में याने अर्हत् के शासन में भणित याने प्रतिपादित किया हुआ है-(किसने प्रतिपादन किया है ? इसके उत्तर में) उस बात के जानकारों ने-इतना ऊपर से ले लेना,

उससे क्या [सिद्ध हुआ] सो कहते हैं-उसके उपार्जन में याने कि उन गुणों का उपार्जन याने वृद्धि के काम में-प्रथम याने सबसे आदि में उनके लिये यत्न करना,

यहां यह आशय है कि-जैसे महल बांधने की इच्छा करने वाले जमीन साफ करके नींव आदि को मजबूती करते हैं, क्योंकि उससे ही उतना मजबूत महल बांधा जा सकता है-वैसे ही धर्मार्थियों ने भी ये गुण बराबर उपार्जन करना, कारण कि वैसा करने ही से विशिष्ट धर्म समृद्धि प्राप्त की जा सकती है, जिसके लिये [आगे कहा जायगा उसके अनुसार] भणित याने कहा हुआ है, [किसने कहा हुआ है तो कि] पूर्वाचार्यों ने. इतना ऊपर से समझ लेना।

क्या कहा हुआ है वही कहते हैं:—

धम्मरयणस्स जुग्गो, अक्खुद्दो १ रूववं २ पगइसोमो ३,
लोगप्पिओ ४ अक्रूरो ५ भीरू ६ असढो ७ सुदक्खिण्णो ८
लज्जालुओ ९ दयालु १० मज्झत्थो सोमदिट्ठि ११ गुणरागी १२

सक्कह १२ सुपक्खजुत्तो १४, सुदीहदंसी १५ विसेसन्नू १६
वुड्ढाणुगो १७ विणीओ १८, कयण्णुओ १९ परहियत्थकारी य ।
तह चेव लद्धलक्खो २१, इगवीसगुणेहिं संपन्नो ॥७॥

अर्थ —जो पुरुष अक्षुद्र, रूपवान, शान्त प्रकृति, लोक प्रिय अक्रूर, पाप भीरू, निष्कपटी, दाक्षिण्यतावान्, लज्जालु, दयालु, मध्यस्थ, सोमदृष्टि, गुणरागी, स्वजन संबंधियों के साथ प्रीति रखने वाला, दीर्घदर्शी, गुणदोषज्ञ, वृद्धानुगामी, विनीत, कृतज्ञ, परोपकारी और समझदार, ऐसे इक्वीस गुण वाला होवे वह धर्म रूप रत्न का पात्र हो सकता है। ५-६-७

धर्मों में जो रत्न समान प्रवर्त्तित है वह जिनभाषित देश-विरति और सर्वविरति रूप धर्म धर्मरत्न कहलाता है—उसको योग्य याने उचित-वह होता है कि-जो 'इक्वीस गुण से संपन्न हो' इस प्रकार तीसरी गाथा के अंत में जो पद है वह साथ में जोडना।

उन्हीं गुणों को गुण गुणिका कितनेक प्रकार से अभेद बताने के लिये गुणिवाचक विशेषणों से कह बताते हैं यहां 'अक्खुद्दो' इत्यादि पद बोलना.

यहां अक्षुद्र याने अनुत्तान मतिवाला हो-अर्थात् जो क्षुद्र याने उछ्रंड वा कम बुद्धि न हो उसे अक्षुद्र जानना. १

रूपवान्, अर्थात् सुन्दर रूप वाला अर्थात् जो अच्छी पांच इन्द्रियों वाला हो—यहां मत् प्रत्यय प्रशंसा का अर्थ बतलाता है, फक्त रूप मात्र बतलाना हो तो इन् प्रत्यय ही आता है, जैसे कि 'रूपिणः पुद्गलाः प्रोक्ता' रूपि पुद्गल कहे हुए हैं [इस जगह रूपि याने रूपवाले इतना ही अर्थ होता है] २

प्रकृति सोम याने कि स्वभाव ही से पापकर्म से दूर रहने वाला होने से जो शांत स्वभाव वाला होय. ३

लोकप्रिय याने कि हमेशा सदाचार में प्रवृति वाला होने से जो सब लोगों को प्रिय लगे. ४

अक्रूर याने कि चित्त में गुस्सा न रखने से जो शान्त मन वाला हो. ५

भीरू याने कि इस भव और परभव के अपाय से जो डरने वाला हो. ६

अशठ याने कि जो दूसरों को ठगने वाला न होने से निष्कपटी हो. ७

सुदाक्षिण्य याने कि किसी की भी प्रार्थना का भंग करते डरने वाला होने से जो दाक्षिण्य गुण वाला हो. ८

लज्जालु याने अकार्य का आचरण करते शरमा कर उसको जो वर्जित करने वाला हो. ९

दयालु याने प्राणियों पर अनुकंपा रखने वाला हो. १०

मध्यस्थ याने राग द्वेष रहित हो—इसी से वह सोमदृष्टि याने ठीक तरह से धर्म विचार को समझने वाला होने से [शांत दृष्टि से] दोष को दूर करने वाला होता है, मूल में 'सोमदिट्ठि' इस स्थान पर प्राकृतपन से विभक्ति का लोप किया है. इस जगह मध्यस्थ और सोमदृष्टि इन दो पदों से एक ही गुण लेने का है. ११

गुणरागी याने गुणों का पक्षपाती अर्थात् गुणों की ओर झुकने वाला हो. १२

सुकथा याने धर्मकथा वह जिसको अभीष्ट हो वह सत्कथ अर्थात् धर्म कथा कहने वाला हो. १३

सुपक्ष युक्त याने कि सुशील और विनीत परिवार वाला हो. १४

सुदीर्घदर्शी याने भलीभांति विचार कर जिसका परिणाम उत्तम हो ऐसे कार्य का करने वाला हो. १५

विशेषज्ञ याने कि अपक्षपाती होकर गुण दोष की विशेषता को जानने वाला हो. १६

वृद्धानुग याने वृद्धों का अनुसरण करने वाला अर्थात् पकी बुद्धि वाले पुरुषों की सेवा करने वाला हो. १७

विनीत याने कि अधिक गुण वालों को मान देने वाला हो. १८
कृतज्ञ याने दूसरे के किये हुए उपकार को न भूल ने वाला हो. १९

परहितार्थकारी याने निःस्वार्थता से पर कार्य करने वाला हो-
प्रथम सुदाक्षिण्य ऐसा विशेषण दिया है, उसमें और इस विशेषण में इतना अन्तर जानना कि-सुदाक्षिण्य याने दुसरा याचना करे तब उसका काम कर दे और यह तो स्वतः पर हित करता है. २०

'तह चेव' इस शब्द में तथा शब्द प्रकार के लिये है, चः समुच्चय के लिये है और एव शब्द अवधारण के लिये है, जिससे इसका अर्थ यह है कि-जैसे ये वीस गुण कहे हैं उसी प्रकार लब्ध-लक्ष्य भी होना चाहिये और जो ऐसा हो वह धर्म का अधिकारी होता है ऐसा पद योग करना.

लब्धलक्ष्य इस पद का अर्थ इस प्रकार है कि लब्ध कहते लगभग पाया है लक्ष्य याने पहिचानने लायक धर्मानुष्ठान का व्यवहार जिसने वह लब्धलक्ष्य अर्थात् समझदार होने से जिसे सुख से सिखाया जा सके वैसा हो, २१

इस प्रकार इक्वीस गुणों से जो सम्पन्न हो वह धर्मरत्न के योग्य होता है ऐसा (पहिले) जोड़ा ही है. इस प्रकार तीन द्वार गाथाओं का अर्थ हुआ।

आठवीं गाथा का अवतरण करते हुए अब सूत्रकार स्वयं ही ...र्थ का वर्णन करने को इच्छुक होकर अक्षुद्र यह प्रथम गुण ...टतः बताते हैं।

...ुद्दो त्ति अगंभीरो, उत्ताणमई न साहए धम्मं।
...परोवयारसत्तो, अक्खुद्दो तेण इह जुग्गो ॥ ८ ॥

...—क्षुद्र याने अगंभीर अर्थात् उद्धत बुद्धिवाला जो होवे वह ... का साधना नहीं कर सकता, अतएव जो स्वपर का उपकार ...ने को समर्थ रहे वह अक्षुद्र अर्थात् गंभीर हो उसे यहां योग्य ...नना।

यद्यपि क्षुद्रशब्द क्रूर, दरिद्र, लघु आदि अर्थों में उपयोग किया ...ता है तथापि यहां क्षुद्र शब्द से अगंभीर कहा है-वह तुच्छ होते ...उत्तानमति याने तुच्छ बुद्धिवाला होता है जिससे वह भीम के ...ान धर्म साधन नहीं कर सकता, कारण कि धर्म तो सूक्ष्म बुद्धि ...लों ही से साधन किया जा सकता है, जिसके लिये कहा है कि-

...सूक्ष्मबुद्ध्या सदा ज्ञेयो धर्मो धर्मार्थिभिर्नरैः।
अन्यथा धर्म बुद्ध्यैव तद्विघातः प्रसज्यते ॥१॥

धर्मार्थि मनुष्यों ने सदैव सूक्ष्मबुद्धि द्वारा धर्म को जानना ...हिये, अन्यथा धर्मबुद्धि ही से उलटा धर्म का विघात हो जाता ...।

जैसे कोई कम बुद्धिवाला पुरुष रोगी को औषधि देने का ...भिग्रह ले, रोगी के नहीं मिलने पर अन्त में वह शोक करने ...ता है कि—

अरे! मैंने उत्तम अभिग्रह लिया था, परन्तु कोई रोगी नहीं ...ा; इससे मैं अधन्य हूँ कि मेरा अभिग्रह सफल नहीं हुआ।

इस प्रकार साधुओं को रुग्णावस्था होने के अभिप्राय से जो नियम ग्रहण करना उसे महात्मा पुरुषों ने परमार्थ से दुष्ट समझना चाहिये। ४

इस (क्षुद्र) से विपरीत अक्षुद्र पुरुष सूक्ष्म बात को समझने वाला और भलीभांति विचार कर काम करने वाला होने से अपने पर तथा दूसरे पर उपकार करने को शक्त-समर्थ होता है, जिससे वहां यहां याने धर्म ग्रहण करने में योग्य याने अधिकारी होता है, सोम के समान।

नगण तथा रगण सहित उत्तम यति पद याने छंद के समान नरगण कलित याने मनुष्यों के समूह से सहित और सुयति याने श्रेष्ठ मुनिवरों अथवा श्रेष्ठ विश्राम स्थलों वाला कनककूट नामक नगर है, उसमें विबुधप्रिय याने देवताओं को वल्लभ वासव याने इन्द्र के समान विबुधप्रिय याने पंडितों को प्रिय ऐसा वासव नामक राजा था।

उस राजा की पुत्री कमला तथा कमलसेना और सुलोचना नामक दूसरी दो राजपुत्रियां मिलकर तीन तरुणियां दुस्सह प्रिय विरह से दुःखित थीं। इनको एक दूसरे के स्वरूप की भी खबर नहीं थी परन्तु वहां रोती हुई समान दुःख से दुःखित होकर एक जगह रह कर दिन बिताती थीं।

वहां एक सुगुणों से अवामन अर्थात् परिपूर्ण—परन्तु दिखाव से वामन पुरुष अपनी कलाओं द्वारा राजा आदि समस्त नगर जनों को बराबर प्रसन्न करता था।

उस वामन को एक समय राजा ने कहा कि जो तू विरह-दुःखित तीन युवतियों को प्रसन्न करे तो सचमुच तेरी कला की होशियारी जान पड़े।

तब अत्यंत करुणातुर होकर उसने तालाब में से पानी लाकर उसे पिला कर (तथा साथ ही उसको) हवा करके सावधान किया.

पश्चात् राजकुमार उसे पूछने लगा कि, हे महाशय ! तू कौन है और तेरी यह दशा किस प्रकार हुई है ? तब वह घायल पुरुष कहने लगा कि, हे सुजन शिरोमणि ! सुन, मैं सिद्ध नामक योगी हूँ।

मैं मुझ से अधिक विद्या बल वाले एक दुश्मन योगी द्वारा इस अवस्था को पहुंचाया हुआ हूं—तो भी, हे गुणवान् ! तूने मुझे सावधान किया है।

पश्चात् प्रसन्न हो राजकुमार को गरुड़ मंत्र देकर अपने स्थान को गया, और वह राजकुमार इस नगर में आया.

रात्रि होने पर उसने कामदेव के मंदिर में विश्राम किया, वहां वह बराबर जागता हुआ लेटा हुआ ही था कि, इतने में वहां एक तरुण स्त्री कामदेव की पूजा करने आई.

तदनंतर वह बाहिर निकलकर कहने लगी कि—हे वनदेवता माताओं ! तुम ठीक तरह सुनो, मैं यहां के वासव नामके राजा की कमला नामक एक दुखी कन्या हूँ.

मेरे पिता ने मुझे मणिरथ राजा के पुत्र विक्रमकुमार को उसके उज्वल गुणों से आकर्षित होकर दी हुई है, तथापि वह कुमार अभी कहां गया है सो मालूम नहीं होता.

अतएव जो इस भव में वह मेरा भर्तार न हुआ तो आगामी भव में होवे, यह कह कर वह युवती वड़ के वृक्ष में फांसी बांध कर उसमें अपना गला डालने लगा।

इतने ही में विक्रमकुमार (दौड़ता हुआ वहां जाकर) 'दुःसाहस मत कर' यह बोलता हुआ फांसी को छुरे द्वारा काट कर कमल समान सुकोमल वचनों से कमला को रोकने लगा।

इस प्रकार मधुर और गंभीर वाणी से वामन राजा कि प्रार्थना करने से, त्रिविक्रम अर्थात् श्रीकृष्ण ने जैसे कमला यानि लक्ष्मी से विवाह किया था वैसे ही विक्रम कुमार ने कमला से विवाह कि॰

दूसरे दिन प्रातःकाल राजा ने हर्ष पूर्वक वर वधु को नगर में प्रवेश कराया और वे वहां राजा के दिये हुए प्रासाद में क्रीड़ा करते हुए रहने लगे.

(इस प्रकार उक्त वामन पुरुष ने बात कही तब) कमला पूछने लगी कि, भला, आगे क्या हुआ सो कहो, तब वामन बोला कि अभी तो राज सेवा का समय हो गया है, यह कह कर चलागया. दूसरे दिन आकर उसने निम्नानुसार बात प्रारंभ की.

अब एक समय रात को किसी रोती हुई स्त्री का करुण शब्द सुन कर उस शब्द के अनुसार चलता हुआ कुमार स्मशान में पहुंचा.

वहां उसने एक अश्रु पूर्ण भयभीत नेत्रवाली स्त्री को देखा, तथा उसके सन्मुख एक योगी को खड़ा हुआ देखा, वैसे ही एक प्रज्वलित अग्नि का कुण्ड देखा.

तव महावलवान् कुमार (उक्त वनाव देखने के लिये) क्षणभर छिपी हुई जगह खड़ा रहा, इतने में विषम काम के जोर से पीड़ित योगी उक्त वाला को कहने लगा कि- हे श्वेत शतपत्र के पत्र-समान नेत्रवाली ! मुझे तेरा पति मान कर अनुग्रह करके स्पर्श कर कि-जिससे तू सकल रमणीय रमणियों में चूड़ामणि समान मानी जावेगी। तव वह रोती हुई वाला वोली कि- तू व्यर्थ अपनी आत्मा को क्यों विगाड़ता है, तू चाहे इन्द्र या कामदेव हो तो भी तेरे साथ मुझे काम नहीं।

यह सुन रुष्ट हुआ जोगी ज्योंही वलात्कार अपने हाथ से उसे पकड़ने लगा, त्योंही उस वाला ने चिल्लाया कि- हाय हाय !! यह पृथ्वी अनाथ है कारण कि मैं श्रीपुर नगर के राजा जयसेन की पुत्री कमलसेना हूं, और मेरे पिता ने मुझे मणिरथ राजा के पुत्र विक्रमकुमार को दी हुई है।

हाय हाय ! (मुझ पर) यह कोई विद्यावल वाला जुल्म करने को तैयार हुआ है, यह सुन छिपा हुआ कुमार विक्रम अत्यन्त क्रोध के साथ वहां आकर उससे कहने लगा कि-जो मर्द हो तो हथियार ले ले और तेरे इष्ट देव का स्मरण करले, कारण कि- हे पापिष्ठ ! तू परस्त्री की अभिलापा करता है अतएव अपने को मरा हुआ ही समझ ले। तव योगी भयभीत होकर कहने लगा कि- हे कुमार ! तूने मुझे परस्त्री का स्पर्श करते रोक कर वास्तव में नरक में पड़ने से वचाया है। पश्चात् वह योगी उसको उपकारी मानता हुआ रूप परावृत्ति करने वाली विद्या देकर कहने लगा कि तेरे भारी पराक्रम व साहस के गुणों से तथा तेरी ओर फिरी हुई इस कुमारी की दृष्टि से मैं सोचता हूं कि-तू विक्रमकुमार है। तव विक्रमकुमार

वह वहीं रहा। अव वह कुमार अपनी प्रथम की स्त्रीयों को देखने के लिये एक दिन सुलोचना को साथ ले इसी नगर में पुनः अपने महल के उद्यान में आ पहुँचा, तव सुलोचना पूछने लगी कि वह कुमार कहां गया है, सो कह। तव वामन हँसता हुआ वोला कि तुम जैसी वेकार हो वैसा मैं नहीं, यह कहकर वहां से उठ निकला।

अपना २ चरित्र सुनने से साथ ही अपने २ अनुकूल अंगस्फुरण पर से उन युवतियों ने तर्क किया कि-यह वामन अन्य कोई नहीं परन्तु रूप परिवर्तित किया हुआ हमारा पति ही होना चाहिये।

अव एक समय राजमार्ग में चलते हुए वह वामन किसी घर में करुण स्वर से रुदन होता सुन कर किसी से पूछने लगा कि-यहां रुदन किसलिये किया जा रहा है। वह वोला कि तिलकमंत्री की सरस्वती नामक पुत्री घर पर खेल रही थी इतने में उसे काले सांप ने डस लिया है। इससे उसकी विषवैद्यों ने (भी) छोड़ दिया है। इसलिये उसके मां वाप तथा स्वजन आशा छूट जाने से उन्मुक्त कंठ से यहां वहुत रुदन कर रहे हैं। यह सुन वामन कहने लगा कि-हे भद्र ! चलो, अपन मंत्री के घर में चलें, (कि जिससे) उक्त वाला को मैं देखूं, और वने वहां तक मैं भी कुछ उद्यम-उपाय करुं। यह कहने के वाद उसके साथ वामन मंत्री के घर में पहुँचा, और प्रौढ़ मंत्र के प्रभाव से शीघ्र ही उक्त वाला को सचेत करने लगा। तव मंत्री ने प्रार्थना करी कि- जैसे तुझने अपना विज्ञान वताया वैसा ही तेरा वास्तविक रूप भी प्रगट कर। जिससे उसने क्षणभर में नट के समान अपना मूलरूप प्रगट किया। उसका श्रेष्ठ रूप देखकर तिलकमंत्री अत्यन्त विस्मित होगया, इतने ही में चारण लोगों ने स्पष्टतः निम्नाङ्कित जयघोष किया।

मणिरथ राजा के कुल में चन्द्रमा समान, महादेव, हीरे के हार और श्वेत हथिनी के समान उज्ज्वल यशवाले, त्रैलोक्य में

इसके बाद राजाने [illegible] कुमार को [illegible] के [illegible] से [illegible] साथ अपने घर पर बुलाया । वहां वह अपनी [illegible] स्त्रियों के साथ देव के समान सुख पूर्वक रहने लगा ।

अब किसी समय विक्रमकुमार के पिता की ओर से [illegible] आये [illegible] से प्रेरित होकर कुमार अपने श्वसुर राजा की आज्ञा ले [illegible] स्त्रियों के साथ तिलकनगर में आ पहुंचा । (वहां आकर) कुमार ने माता पिता को प्रणाम किया. इतने में उद्यानपालक ने आकर राजा को विदित किया कि-श्री अकलंक नामक सूरि (उद्यान में) पधारे हैं । तब कामदेव के समान झलकते ठाठबाठ से कुमार सहित राजाने गुरु को वंदन करने के लिये जाते हुए मार्ग में एक मनुष्य को देखा । वह मनुष्य किलबिल करते कीड़ों की जाल से भरा हुआ मक्षिकाओं से व्याप्त, निकृष्ट कुष्ठ से फूटे हुए मस्तक वाला और अति दीन-हीन स्वरवाला था । उस अरिष्ट मंडल के समान न देखने योग्य मनुष्य को देख कर राजा विषाद से मलीन मुख होकर गुरु के समीप आकर, वंदना करके धर्मकथा सुनने लगा ।

(गुरु उपदेश देने लगे कि-) यह जीव अनादि काल से शरीर के साथ कर्मबन्धन के संयोग से मिलकर हमेशा दुःखी रहता हुआ अनादि से सूक्ष्म वनस्पतिकाय में रहकर अनंतों पुद्गलपरावर्त्त वहां पूरे करता है । पश्चात् बादर स्थावरों में आकर वहां से जैसे

क्षुद्रमति भीम जिनादिक की निंदा में परायण रहकर, मरकर के यह दुःखी हुआ है और अभी अनन्त भव भ्रमण करेगा।

(गुरु की यह बात सुनकर) विक्रमकुमार ने जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त कर हर्ष से उल्लसित व रोमांचित हो गुरु के चरण कमल को नमन करके अति स्पृहणीय श्रावकधर्म ग्रहण किया नरसिंह राजा भी विक्रमकुमार को राज्यभार देकर दीक्षा ले, केवलज्ञान पा मोक्ष को पहुंचा।

जिनमंदिर, जिनप्रतिमा तथा जिन की रथयात्रा करने में तत्पर रहता हुआ, मुनियों की सेवा में आसक्त, दृढ सम्यक्त्वधारी, निर्मल चित्त विक्रमराजा पूर्ण कलावान् प्रति पूर्ण मंडल युक्त और दुरित अंधकार के विस्तार को नष्ट करने वाला चन्द्रमा जैसे कुवलय को विकसित करता है, वैसे पूर्ण कला से समस्त मंडल को वश कर पापरूप अन्धकार का नाश करके पृथ्वी के वलय को सुखमय करने लगा। पश्चात् कितनेक दिन के अनन्तर विक्रमराजा ने अपने पुत्र को राज्य धुरी का भार सौंप कर अकलंकसूरि के पास दीक्षा ग्रहण की।

इस प्रकार अक्षुद्र याने गंभीर और सूक्ष्म बुद्धिमान हो, बहुत ज्ञान प्राप्त कर विधि से मृत्यु को प्राप्त हो स्वर्ग में पहुंचा और अनुक्रम से मोक्ष को पहुंचेगा। इस प्रकार अक्षुद्र गुणवान की समृद्धि और क्षुद्र जनों का दुःखित हुआ संसार सुनकर श्रद्धावान, शांतवृत्ति श्रावक जनों ने सर्वत्र शांत रहकर अक्षुद्रता धारण करना चाहिये।

इस प्रकार सोम और भीम की कथा है।

अक्षुद्रता रूप प्रथम गुण कहा, अब रूपवत्त्व रूप दूसरा गुण कहते हैं।

संपुन्नंगोवंगो, पंचिंदियसुन्दरो सुसंघयणो।
होइ पभावणहेऊ, खमो य तह रूववं धम्मे ॥ ९ ॥

यानी संपूर्ण अंगोपांगयुक्त, पंचेन्द्रियों से सुन्दर व सुसंहनन हो वह रूपवान माना जाता है, वैसा पुरुष तीर्थोन्नति का कारण भूत होता है और धर्म पालन करने में भी समर्थ है। संपूर्ण याने अन्यून हैं अंग याने मस्तक, उदर आदि व उपांग याने अंगुलियां आदि जिसके वे संपूर्णांगोपांग कहलाते हैं सारांश कि-अखंडित अंगवाला। पंचेन्द्रिय सुन्दर याने कि-क्षीणस्वर, बधिर, गूंगा न होते हुए पंचेन्द्रियों से सुशोभित। सुसंहनन याने शोभन संहनन कहते शरीर बल है जिसका उसे सुसंहननी जानो। तथा यह न समझना कि प्रथम संहनन वाला ही धर्म पा सकता है, क्योंकि बाकी के संहननों में भी धर्म प्राप्त किया जा सकता है जिसके लिये कहा है कि:—

" सर्व संस्थान और सर्व संहननों में धर्म पा सकता है,"

सुसंहनन वाला होवे तो वह तपसंयमादिक अनुष्ठान करने में समर्थ रह सकता है ऐसा यह विशेषण देने का अभिप्राय है। ऐसा पुरुष धर्म अंगीकृत करे तो क्या फल होता है सो कहते हैं। ऐसा पुरुष प्रभावना का हेतु याने तीर्थ की उन्नति का कारण होता है वैसे ही रूपवान पुरुष धर्म में याने कि धर्म करने के विषय में समर्थ हो सकता है, कारण कि-वह संपूर्णांग से सामर्थ्ययुक्त होता है इस जगह सुजात का दृष्टान्त बताऊंगा।

नंदिषेण और हरिकेशिबल आदि तो कुरूपवान् थे तो भी उन्होंने धर्म पाया है यह कह कर रूपवानपने का व्यभिचार न बताना चाहिये क्योंकि वे भी संपूर्ण अंगोपांगदिक से युक्त होने से रूपवान ही गिने जाते हैं, और यह बात भी प्रायिक है, कारण कि अन्य गुण का सद्भाव हो तो फिर कुरूपपन अथवा अन्य किसी गुण का अभाव हो उससे कुछ दोष नहीं आता। इसी से आगे मूल ग्रंथकार ही कहने वाले हैं कि:—

" चतुर्थ भाग गुण से हीन हो वह मध्यम पात्र और अर्ध गुण से हीन हो वह अधम पात्र है."

सुजात की कथा इस प्रकार है।

दुश्मनों के दल से अकंपित चंपानामक नगरी में प्रताप से सूर्य का प्रभा को जीतनेवाला मित्रप्रभ नामक राजा था। उसकी धारणी नामक रानी थी। वहां धर्मपरायण और सुजनरूप कमलवन को आनन्द देने को सूर्य समान धनमित्र नामक श्रेष्ठि था। उसकी लक्ष्मी समान उत्तम रूप लावण्यवाली धनश्री नामक भार्या थी। उनको सैंकड़ों उपायों से लोगों के चित्त को चमत्कार करने वाला चार्य ही शरीर की कांति से चकचकित एक पवित्र पुत्र प्राप्त हुआ। वह पुत्र रिद्धियुक्त कुल में उत्पन्न हुआ जिससे लोग कहने लगे कि इसका जन्म सुजात है। इसीसे उसका नाम सुजात रखा गया।

वह प्रतिपूर्ण अंगोपांगयुक्त तथा अनुपम लावण्य व रूपवान् होकर सर्व कलाओं में कुशल होकर क्रमशः यौवनावस्था को प्राप्त हुआ। वह कभी तो जिनेश्वर की स्तुति तथा पूजा में वाणी और पाणि (हाथ) को प्रवृत्त करता और कभी भ्रमर के समान गुरु के निर्मल पद कमलों की सेवा करता था। (और कभी) जिनप्रवचन की प्रभावना करा कर अपने को पवित्र करता. (और) कभी जिन-सिद्धान्त रूप अमृतरस को अपने कर्णपुट द्वारा पीता था। और ललित मनहर और सहृदय (मर्मज्ञ) जनों के हृदय को पकड़ने वाले वाक्यों द्वारा न्याय से विराजते नगर में वह सकलजन को आनन्द देता था।

इसी नगर में धर्मघोष नामक मंत्री की प्रियंगु नामक पत्नी थी। उसने (एक दिन) पीसना पीसने को भेजी हुई दासियों को विलम्ब से आने के कारण उपालम्भ (ठपका) देने लगी। तब

अकर्त्तव्य नहीं। अतएव इस सुजात को मारना चाहिये, सो भी इस प्रकार कि-जिससे लोगों में भी अपवाद न हो। इससे राजाने अपने कार्य के बहाने से उसे पत्र के साथ अरपुरी नगरी के चन्द्र-ध्वज राजा के पास भेजा।

चन्द्रध्वज राजा ने हुक्म देखा। परन्तु सुजात का रूप देख कर वह चित्तमें विचार करने लगा कि ऐसे रूपवान पुरुष में ऐसा राज्यविरुद्ध कार्य घटित हो ही नहीं सकता। इसीलिये कहा है कि-

" हाथ, पग, दांत, नाक, मुख, ओष्ठ और कटाक्ष ये जिसके कुछ टेढ़े या सीधे होवें तो वह मनुष्य स्वयं भी वैसा ही टेढ़ा सीधा निकलता है। जो बिलकुल टेढ़े होवें तो वह भी बिलकुल टेढ़ा और सीधे होवें तो सीधा निकलता है।

अब चन्द्रध्वज ने अन्य सब को विदा किया व सुजात को (एकान्त में) सब बात कहकर राजा का पत्र बताया। तब सुजात बोला कि-हे नरवर ! तुझे जिस प्रकार तेरे स्वामी की आज्ञा है वैसा ही कर। तब चन्द्रध्वज बोला कि तुझ पर प्रसन्न होकर मैं तुझे मारता नहीं, अतएव तू पुण्य व कीर्त्ति को क्षीण किये बिना गुप्त रीति से यहां रह। यह कह कर उसने चन्द्रयशा नामक अपनी भगिनी जो कि त्वचा के दोष से कोढ़ रोग से दूषित हो रही थी। उसका बड़े हर्ष के साथ उससे विवाह कर दिया।

वह चन्द्रयशा सुजात की संगति से दुष्ट कुष्ठ रोग से पीड़ित होते हुए भी उत्तम संवेग से रंगित होकर श्रावक-धर्म में निश्चल हो गई। उसने अनशन ग्रहण किया और सुजात उसकी निर्यापना करने लगा। इस प्रकार वह मृत्यु पाकर सौधर्म-देवलोक में देदी-प्यमान शरीर-धारी देवता हुई।

अवधिज्ञान से वह देव अपना पूर्वभव जानने पर वहाँ आ सुजात को नमन कर अपना परिचय दे कहने लगा कि–हे स्वामिन्! मैं आपका कौनसा इष्ट कार्य करूं, सो कहिये। तब सुजात (अपने मनमें) सोचने लगा कि–जो मैं मेरे माता पिता को एक बार देखूं तो पश्चात् प्रव्रज्या ग्रहण करूं। देव ने उसका यह विचार जानकर चंपापुरी पर निम्नांकित संकट उत्पन्न करने लगा। नगर के ऊपर एक भारी शिला की रचना करी जिसे देखकर राजा आदि लोग बहुत भयभीत हुए, व हाथ में धूप के कड़छे धारण कर हाथ मस्तक पर रखकर कहने लगे हे देव हे देव! हमने जो किसी का बुरा किया हो तो हमको क्षमा करो। तब वह देव डराने लगा कि तुम दास हो गये हो अब कहां जा सकोगे। (पश्चात् कहने लगा कि) पापी मंत्री ने सुश्रावक पर अकार्य का आरोप लगाकर उसे दूषित किया है। इससे आज तुम समस्त अनार्यों को चूरचूर करूंगा। इसलिये उस श्रेष्ठ पुरुष को जो तुम खमाओ तो छूट जाओ तब लोग बोले कि–वह अभी कहां है? देव बोला इसी नगर के उद्यान में है। तब नगरवासियों के साथ राजा ने वहां जाकर उससे माफी मांगी और शीघ्र ही उसे विशाल हाथी पर चढ़ाया। लोग उसके मस्तक पर हिमालय समान धवल छत्र धारण करने लगे और सुरसरित (गंगा) की लहरों तथा महादेव सदृश श्वेत चामरों से उसे वीजने लगे। व सजल मेघ के समान गर्जते हुए वंदीजन उसका स्तवन करने लगे और सुजात तर्कित लोगों को उनकी धारणा से भी अधिक दान देने लगा। लोग कहने लगे कि धर्म के उदय से तेरा रूप हुआ है और तेरे उदय से धर्म वृद्धि को प्राप्त होता है। इस तरह इन दोनों बातों का परस्पर स्थिर सम्बंध है। (और लोग फिर कहने लगे कि) अहो! यह पुरुष सचमुच धन्य है कि देवता भी उसकी आज्ञा मानते हैं तथा ऐसे पुरुष जो धर्म

पालते हैं वह धर्म भी उत्तम होना चाहिये। इत्यादि जिनशासन की प्रभावना कराता हुआ वह अपने घर आकर मां वाप के चरण-कमल में निर्मल मन धर कर नमन करने लगा।

राजाने प्रथम धर्मघोष मंत्री को मारने का हुक्म दिया, तव सुजात ने मध्यमें पड़कर उसे छुड़ाया तो भी राजाने उसको निर्वासित किया। तदनन्तर सुजात ने अपना द्रव्य धर्म में व्यय कर राजा की आज्ञा ले अपने मां वाप के साथ दीक्षा ग्रहण की, तथा चरण शिक्षा व करण-शिक्षा प्राप्त कर सुविज्ञ हुआ। ये तीनों व्यक्ति दुष्कर तपचरण करके निर्मल केवलज्ञान प्राप्त कर प्रतिज्ञा पूर्ण कर अचल सर्वोत्तम मोक्षपद को प्राप्त हुए।

इधर देशनिर्वासित धर्मघोष मंत्री भी राजगृह नगर में जाकर वैराग्य प्राप्त कर गुरु से दीक्षा ग्रहण कर साधु की प्रतिमा--विहार स्वीकार कर विचरने लगा। वह मुनि वारत्तपुर में अभयसेन राजा के वारत्त नामक मंत्री के घर में वहोरने गया वहां उनके घी शक्कर युक्त खीर वहोराते हुए उसमें से एक बूंद नीचे गिर गया इससे मुनि वह लिये विना ही चलता हुआ। तव समुदाय में वैठा हुआ मंत्री विचार करने लगा कि मुनि ने भिक्षा क्यों नहीं ली? इतने में उस बूंद पर मक्षिकाएं वैठने लगी। उन मक्षिकाओं को छिप-कली देखने लगी, उसे गिरगट (सरड़ा) देखने लगा, उसे भी विल्ली ने देखा, उसे वाहर से आते हुए कुत्ते ने देखा और उसे वहीं रहने वाले कुत्ते ने देखा। वे लड़ने लगे, उन्हें देखकर उनके महावलवान स्वामी दौड़ कर वहां आये और वहां महायुद्ध मच गया, तव मंत्री मनमें निम्नाङ्कित विचार करने लगा। उक्त मुनिने उपरोक्त कारण से भिक्षा न ली ऐसा विचार करके विशुद्ध भाव के योग से जातिस्मरण पा मंत्री दीक्षा ले [illegible] में आया।

रूपवानत्वरूप द्वितीय गुण कहा—

अब प्रकृति-सोमत्व रूप तृतीय गुण का वर्णन कहते हैं:—

पयई-सोमसहावो, न पावकम्मे पवत्तए पायं ।
होइ सुहसेवणिज्जो, पसमनिमित्तं परेसिं पि ॥१०॥

अर्थ—प्रकृति से शांत स्वभाववाला प्राय: पापकर्म में प्रवर्त्तित नहीं होता और सुख से सेवन किया जा सकता है, साथ ही दूसरों को भी शांति दायक होता है। प्रकृति से याने अकृत्रिमपने से, जो सौम्य स्वभाव वाला याने जिसकी भीषण आकृति न होने से उसका विश्वास किया जा सके ऐसा होवे वह पुरुष पापकर्म याने मारकाट आदि अथवा हिंसा चोरी आदि दुष्ट कार्यों में प्राय: याने बहुत करके प्रवर्त्तित होता ही नहीं। प्राय: कहने का यह मतलब है कि निर्वाह हो ही न सकता हो तो बात पृथक् है परन्तु इसके सिवाय प्रवर्त्तित नहीं होता, और इसी से वह सुखसेवनीय याने बिना क्लेश के आराधन किया जा सके ऐसा तथा प्रशम का निमित्त याने उपशम का कारण भी होता है—इस जगह मूल में अपि शब्द आया है वह समुच्चय के लिये होने से 'प्रशम निमित्त च' ऐसा अन्वय में जोड़ना (किसको प्रशम का निमित्त होता सो कहते हैं) पर को याने ऐसा वैसा न होवे उस दूसरे जन को—दृष्टान्त के रूप में विजयश्रेष्ठि के समान। उक्त विजयकुमार की कथा इस प्रकार है:-

यहां (भरतक्षेत्र में) विजयवर्द्धन नामक नगर में विशाल नामक एक सुप्रसिद्ध श्रेष्ठी था। उसके क्रोधरूपी योद्धा को विजय करने वाला विजय नामक पुत्र था। उक्त कुमार ने अपने शिक्षक के मुख से किसी समय यह वचन सुना कि- " आत्महित चाहने वाले मनुष्य ने क्षमावान होना चाहिये।" जिसके लिये कहा है

इरादे उसने ऐसा किया। इसलिये हे जीव ! उस पर रोप मत कर क्योंकि उससे अपने शरीर ही का शोष होता है। सब कोई अपने पूर्वकृत कर्मों का फल विपाक पाते हैं। अतएव अपराध अथवा उपकार करने में सामने वाला व्यक्ति तो निमित्त रूप-मात्र है। जो तू दोषी पर क्षमा करे तभी तुझे क्षमा करने का अवकाश प्राप्त हो परन्तु जो वहां तू क्षमा नहीं करे तो फिर तुझे सदैव अक्षमा ही का व्यापार रहेगा—अर्थात् क्षमा करने का अवकाश ही नहीं मिलेगा।

(इस गाथा का दूसरी प्रकार से भी अर्थ हो सकता है, वह इस प्रकार है कि) जो तू दोष वाले पर क्षमा करे, तो तेरे पर भी क्षमा करने का प्रसंग आवेगा (याने कि, तू क्षमा करेगा तो दूसरे भी तेरे पर क्षमा करेंगे) परन्तु जो तू क्षमा न करे, तो फिर तेरे पर भी सदैव अक्षमा ही का व्यवहार होगा. (अर्थात् तुझ पर भी कोई क्षमा नहीं करेगा.)

यह सोच कर वह अपने घर चला आया व माता के पूछने पर कहने लगा कि– हे माता ! अपशकुन होने के कारण से मैं उसे नहीं लाया। पश्चात् माता पिता उसे कई बार स्त्री को लिवा लाने के लिये कहते थे तो भी वह तैयार न होता था और विचार करता कि– उस बेचारी को कौन दुःखी करे ? तथापि एक वक्त मित्रों के बहुत प्रेरणा करने से वह श्वसुर गृह गया, वहां कुछ दिन रह कर स्त्री को ले अपने घर आया। तदनन्तर माता पिता के चले जाने (मृत्यु हो जाने) के बाद वे घर के स्वामी हुए और परस्पर प्रेम से रहने लगे. उनके क्रमशः चार पुत्र हुए।

मूल प्रकृति से सौम्य-स्वभाव होने से ही प्रायः विजय बहुत

इसे गुण पूर्ण हो गये थे। उसने संगति के योग से शहर में लोगों
से प्रशम गुण प्राप्त किया, कारण कि संगति ही से जीवों को गुण
दोष प्राप्त होता है, इसीसे कहा है कि—गरम लोहे के ऊपर यदि
पानी रखें तो उसका नाम भी नहीं रहेगा। कमलिनी के पत्र पर
वही जल-बिन्दु मोती के समान जान पड़ेगा। स्वाति नक्षत्र के
बरसने समुद्र की सीप में पड़ कर वही जल-बिन्दु मोती होता
है। इसलिये उत्तम मध्यम व अधम गुण प्रायः संगति ही से
होते हैं।

क्षमा गुण को मुक्ति की प्राप्ति का प्रधान गुण मान कर शुभ
चित्त विजय जो किसी को कलह करता देखता तो यह यच
कहता। हे लोकों! तुम परम प्रमोद में मग्न होकर क्षमावान बनो
और किसी भी प्रकार से क्रोध न करो कारण कि क्रोध भवसमु
का प्रवाह रूप ही है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार
पुरुषार्थ के नाशक और सैकड़ों दुःखों के कारण भूत कलह को
जैसे राजहंस कलुषित जल का त्याग करते हैं, वैसे ही हे भव्यो
तुम भी त्याग करो। किसी के भी दोष प्रगट कर देने की अपेक्षा
न कहना उत्तम है, और दूसरे चतुर मनुष्य ने भी उस विषय को
पूछने की अपेक्षा न पूछना उत्तम है।

इस प्रकार प्रतिदिन उपदेश देते विजय श्रेष्ठि को उसका ज्ये
पुत्र पूछने लगा कि— हे पिताजी! तुम सबको यही बात क्यों
कहते हो? विजय बोला कि हे वत्स! मुझे यह बात अनुभव
सिद्ध है, तब ज्येष्ठ पुत्र बोला कि यह किस प्रकार? तो विजय
बोला कि— यह बात कहने से न कहना अच्छा। पुत्र के बहुत
आग्रह करने पर श्रेष्ठि ने कहा कि— पूर्वकाल में तेरी मां ने मुझे
विषम कुएं में गिरा दिया था। यह बात मैं ने उसे भी फिर नहीं
कही और उसीसे सब अच्छा ही हुआ है, इसलिये तूने भी यह

बात किसी से न कहना चाहिये। उस कमबुद्धि पुत्र ने किसी समय हँसते हँसते पूछा कि–हे माता ! क्या तुमने हमारे पिता को कुए में डाला था, यह बात सत्य है ? वह पूछने लगी कि, यह तुझे कैसे जान पड़ा ? तब वह बोला कि पिता ने बात कही थी उससे यह सुन कर वह इतनी लज्जित हुई कि हृदय फट जाने से वह मृत्यु को प्राप्त हो गई।

यह बात जान कर विजय ने अपने को अल्पाशय मान निन्दा करता हुआ शोकातुर हो स्त्री का अग्निसंस्कारादि मृत कार्य किया। तदनंतर उसका मन संवेग से रंगित हो जाने से अवसर पाकर विमलसूरि के पास शीघ्र (उसने) तुरन्त निरवद्य प्रव्रज्या अंगीकार की।

बहुत वर्षों तक साधुत्व पालन कर शान्त स्वभाव होने से स्वस्थ शरीर को त्याग कर देवता हुआ और अनुक्रम से सिद्धि पावेगा। इस प्रकार सौम्यभाव जनक उदार और उत्कृष्ट विजय श्रेष्ठी का वचन सुनकर गुणशाली भव्य जनों ! तुम जन्म का उच्छेद करने के हेतु प्रकृति सौम्यता नाम तृतीय गुण धारण करो।

प्रकृति सौम्यरूप तृतीय गुण बताया, अब लोकप्रियता रूप चतुर्थ गुण कहते हैं।

> इहपरलोयविरुद्धं, न सेवए दाणविणयसीलड्ढो ।
> लोयप्पिओ जणाणं, जणेइ धम्मंमि बहुमाणं ॥११॥

अर्थ–जो मनुष्य दाता विनयवन्त और सुशील होकर इसलोक व परलोक से जो विरुद्ध कर्म होवें उनको नहीं करता वह लोक प्रिय होकर लोगों को धर्म्म में बहुमान उत्पन्न करे। इसीलिये कहा है कि–– (लोक विरुद्ध कार्य इस प्रकार हैं:––

सब किसी की निंदा करना और उसमें भी विशेष कर गुणवान पुरुषों की निंदा करना, भोले भाव से धर्म करते हुए की हँसी करना, बहु पूजनीय पुरुषों का अपमान करना। बहुत लोगों से विरुद्ध हो उसकी संगति करना, देश कुल आदि के जो आचार होवें उनका उल्लंघन करना, [illegible] भपका करना दूसरे देखें उस तरह (बार बार चमका कर) दान आदि करना भले मनुष्य को कष्ट पड़ने पर प्रसन्न होना, अपनी शक्ति होते हुए भले मनुष्य पर पड़ते हुए कष्ट को न रोकना, इत्यादिक कार्य लोक विरुद्ध जानना चाहिये। परलोक विरुद्ध कार्य ये खरकर्म याने जिन कामों के करने में सख्ती का व्यवहार करना पड़े वे ये इस प्रकार हैं:—

बहुत प्रकार के खरकर्म जैसे कि जल्लाद का काम, जकात (कर) वसूल करने वाले का काम इत्यादि, ऐसे काम सुकृति पुरुष ने विरति न ली हो तो भी न करना चाहिये।

उभय लोक विरुद्ध कार्य वे जुगार (जुआ) आदि सात व्यसन ये हैं:—जूआ, मांस, मद्य, वेश्या, हिंसा, चोरी और परस्त्रीगमन ये सात व्यसन इस जगत में अत्यन्त पापी पुरुषों में सदा रहा करते हैं।

व्यसनी मनुष्य यहां भी सुजनों में निंदित है और मरने पर व नीच मनुष्य निश्चय दुर्गति को पहुंचता है। सारांश यह है कि—ये काम करने से लोगों की अप्रीति होती है, इसलिये उनका परिहार करने ही से सुजनों को प्रिय होता है और धर्म करने का भी वही अधिकारी माना जाता है, तथा दान याने सखावत, विनय याने योग्य सत्कार, तथा शील याने सदाचार में तत्पर रहना, इन गुणों से जो आढ्य याने परिपूर्ण हो वह लोकप्रिय

होता है, इसीलिये कहा है कि —

सखावत से प्रत्येक प्राणी वश में होता है, सखावत से वैर भूले जाते हैं, सखावत ही से ग्राहित मनुष्य बंधुतुल्य हो जाता है, इसलिये सदैव सखावत करते रहना चाहिये। मनुष्य विनय से लोकप्रिय होता है, चंदन उसकी सुगंधि से लोकप्रिय होता है, चन्द्र उसकी शीतलता से लोकप्रिय होता है और अमृत उसके मिठास से लोकप्रिय होता है। निर्मल शीलवान पुरुष इस लोक में कीर्त्ति और यश प्राप्त करता है और सर्व लोगों को वल्लभ हो होता है, तथा परलोक में उत्तम गति पाता है। ऐसा लोकप्रिय पुरुष धर्म प्राप्त करे तो उससे जो फल होता है वह कहते हैं: —

ऐसा लोकप्रिय पुरुष जनों को याने सम्यग्दृष्टि जनों को भी धर्म में याने कि वास्तविक मुक्तिमार्ग में, बहुमान याने आंतरंगिक प्रीति उपजाता है अथवा धर्म प्राप्ति के हेतु रूप बोधिबीज को उत्पन्न करता है. विनयंधर समान इसी से कहा है कि – धर्म का प्रशंसा तथा बीजाधान का कारण होने से लोकप्रियता सद्धर्म की सिद्धि करने को समर्थ है यह बात यथार्थ है।

विनयंधर की कथा इस प्रकार है.

यहां सुवर्णरुचिरा चंपक-लता के समान चंपा नामक विशाल नगरी थी, उसमें न्यायधर्म की बुद्धिवाला धर्मबुद्धि नामक राजा था। उस राजा को रूप से देवांगनाओं को भी जीतने वाली विजयंती नामक रानी थी और वहां इभ्य नामक श्रेष्ठी था और उसको पूर्णयशा नामक भार्या थी। सदैव गुरुजन को पांव पड़ने वाला, अपने शरीर की कान्ति से सुवर्ण को भी जीतने वाला और बहुत विनयवान् विनयंधर नामक उस श्रेष्ठि का पुत्र था। वह कुमार सर्व कलाओं में कुशल हो, चन्द्रमा के समान सर्व

अंगहीन कंदर्प भी जीतता रहता है तो फिर वे शूरवीर गिने जाकर नरसिंह कैसे कहलावें ? परस्त्री की इच्छा करते हुए सदाचार रूप जीवन से हीन महा-मलिन-जन महा पापियों के समान अपना मुख किस प्रकार बता सकते होंगे ? यहां आत्म विनाश करके, कुल को कलंकित कर व अपकीर्ति पाकर प्रज्वलित संसार के अति दुस्सह अग्नि ताप में तप्त हो जीव भटका करते हैं । इस प्रकार शील-भ्रष्ट नीच पुरुषों के अनेक दोष सुनकर हे कुलीन जनों ! तुम शील रूप रत्न को मन से भी मैला मत करो ।

यह सुनकर राजा ने विलक्ष होकर वह संपूर्ण दिन व रात्रि जैसे तैसे व्यतीत की तथा प्रातःकाल में पुनः उनके पास आया । इतने में वे सर्व स्त्रियाँ उसको अग्नि-ज्वाला समान पीले केश वाली अतिशय विभत्स व जीर्ण वस्त्र और मलीन शरीर वाली दिखने लगीं ।

वे स्त्रियाँ यौवन-हीन हुई और रागी-जन को वैराग्य उत्पन्न करने में समर्थ हुई ऐसी उसे दिखीं, जिससे उदास हो वैराग्य पा राजा विचार करने लगा । क्या ये नजरबन्द हैं कि मेरा मति विभ्रम है, कि स्वप्न है, कि कोई दिव्य प्रयोग है अथवा कि मेरे पाप का प्रभाव है ?

हाय हाय ! मैंने कम बुद्धि हो सदा विमल अपने कुल को कलंकित किया और जगत में तमाल पत्र के समान श्यामल अपयश फैलाया । इत्यादिक नाना प्रकार से पश्चाताप कर राजा ने उन्हें विनयंधर के पास भेज दीं, वहां आते ही वे तत्काल यथावत् रूपवान हो गई ।

इतने ही में उस नगर में श्री शूरसेन नामक महान् आचार्य पधारे, उनको नमन करने के लिए उनके पास राजा, विनयंधर

अतिशय करुणा आदि गुणों से युक्त परोपकारी और पाप परिहारी था। वह अति उदार होने से प्रतिदिन मनोज्ञ भोजन किसी भी योग्य पात्र को देकर के उसके अनन्तर ही स्वयं भोजन करता था। वह एक दिन त्रिन्दु नामक उद्यान में कायोत्सर्ग की प्रतिमा धर कर खड़े हुए मानों मूर्तिमय उपशम रस ही हो ऐसे सुविधिनाथ को देख संतुष्ट हो निम्नानुसार उनकी स्तुति करने लगा:—

कैसा तेरा अंग विन्यास है, कैसी तेरी लोचन में लावण्यता है, कैसा तेरा विशाल भाल है, कैसी तेरे मुख-कमल की प्रसन्नता है? अहो! तेरी भुजाएँ कैसी सरल हैं। अहो! तेरे श्रीवत्स की कैसी सुन्दरता है। अहो! तेरे चरण कैसे भव-हरण हैं। अहो! तेरे सर्व अंग कैसे मनहर हैं। वार-वार इन प्रभु को देखकर हे लोगों! तुम तुम्हारे रंक नेत्रों को तृप्त करो, जिससे त्रिभुवन तिलक देवाधिदेव जल्दी जल्दी परमपद दे।

इस प्रकार शुद्ध श्रद्धावान् हो परिपूर्ण भक्ति-राग से जिनेश्वर की स्तुति कर उनकी ओर बहुमान धारण करता हुआ वह चर वैतालिक अपने घर आया। अब उसके पुण्यानुबंधि पुण्य के उदय से भोजन के समय उसके घर श्री सुविधिनाथ जिनेश्वर भिक्षार्थ पधारे। उनको भली-भांति देखकर वैतालिक ने पूर्ण आनन्द से रोमांचित होकर उत्तम आहार वहोराया।

साथ ही सोचने लगा कि मैं आज धन्य-कृतार्थ हुआ हूँ और आज मेरा जीवन सफल हुआ है जिससे कि भगवान् स्व-हस्त से मेरा यह दान ग्रहण करते हैं।

इतने ही में आकाश में विकसित मुख वाले देवताओं ने "अहो सुदानं – अहो सुदानं" ऐसा उद्घोष किया व देव-दुन्दुभि बजाई तथा लोगों के चित्त को चमत्कार कारक गंधोदक

इस प्रकार लोकप्रियता रूप चतुर्थ गुण का वर्णन किया।

अब अक्रूरता रूप पंचम गुण की व्याख्या करने की इच्छा करते हुए कहते हैं:—

कूरो किलिट्ठभावो, सम्मं धम्मं न साहिउं तरइ।
इय सो न इत्थ जोगो, जोगो पुण होइ अक्कूरो ॥१२॥

अर्थ—क्रूर याने क्लिष्ट परिणामी होवे वह धर्म का सम्यक् प्रकार से साधन करने को समर्थ नहीं हो सकता—इससे वैसे पुरुष को इस जगह अयोग्य जानना चाहिये परन्तु जो अक्रूर हो उसी को योग्य जानना चाहिये।

क्रूर याने क्लिष्ट परिणामी अर्थात् मत्सरादिक से दूषित परिणाम वाला जो होवे वह सम्यक् रीति से याने निष्कलंकता से (अथवा सम्यक् निष्कलंक) धर्म का साधन करने याने आराधन करने में समर्थ नहीं हो सकता, समरविजयकुमार के समान।

इस हेतु से ऐसा पुरुष यहां अर्थात् इस शुद्ध धर्म के स्थान में योग्य याने उचित माना ही नहीं जाता, अतएव जो अक्रूर हो उसको योग्य जानना—(मूल में 'पुण' शब्द है वह एवकारार्थ है) कीर्त्तिचंद्र राजा के समान।

कीर्तिचन्द्र नृप तथा समरविजयकुमार की कथा इस प्रकार है।

जैसे आरामभूमि बहुशाला—बहुतसी शाखायुक्त वृक्षों से संयुक्त, पुन्नाग शोभित और विशाल शालवृक्षों से विराजमान होती है वैसी ही बहु साहारा—बहुत से साहूकारों से युक्त, पुन्नाग याने उत्तम पुरुषों से विराजमान और विशाल शाल—किले से शोभित चंपा नामक नगरी थी। वहां सुजन रूप कुमुदों के वन

को आनन्द देने को चन्द्र समान कीर्तिचन्द्र नामक राजा
उसका छोटा भाई समरविजय नामक युवराज था।

अब राग के बल को नष्ट करने वाले, रजस्-पाप को
करने वाले, मलिन-मैले अम्बर-वस्त्र धारण करने वाले, स
दयावान्, अंगीकृत भद्रपद-भद्रता धारी सुमुनि-सुसाधु के
हतराज प्रसर-राजयात्रा रोकने वाला, शमित रजस्-धूल को
वाला, मलिनांबर-वादलयुक्त आकाश वाला, सदक-पानी स
अंगीकृत भद्रपद-भाद्रपद मास वाला वर्षा काल आया।

उस समय प्रासाद पर स्थित राजा ने भरपूर पानी के
जोश से वहती हुई नदी देखी। तब कुतूहल-वश मन आ
होने से अपने छोटे भाई के साथ राजा उक्त नदी में फि
लिये एक नाव में चढ़ा और दूसरे लोग दूसरी नावों में च
ज्योंही नदी में क्रीड़ा करने लगे त्योंही उक्त नदी के ऊप
भाग में वरसे हुए वरसात से एकदम तीव्रवेग का प्रवाह आ
जिससे खींचते हुए भी नावें भिन्न२ दिशाओं में विखर गई, व
प्रवाह के वेग में नाविकों का कुछ भी वश नहीं चल सकता

तब नदी के अन्दर के तथा किनारे पर खड़े हुए पुरज
पुकार करते प्रचंड वायु के झपाटे से राजा वाली नाव द
वाहर निकल गई। वह दीर्घतमाल नामके वन में किसी वृ
लग कर ठहरी। तब कुछ परिवार व छोटे भाई के साथ
उसमें से नीचे उतरा। वहां थक जाने से ज्योंही राजा किनारे
विश्राम लेने लगा त्योंही नदी के प्रवाह से खुदी हुई दरार के
में प्रकटतः पड़ा हुआ उत्तम मणि-रत्नों का निधान उसने देख

राजा ने उसे ठीक तरह से देखकर अपने भाई समरवि
को बताया। वह देदीप्यमान रत्न-राशि देखकर समरविजय

मन चलायमान हो गया। वह स्वभाव ही से क्रूर होने से विचारने लगा कि राजा को मार कर यह सुख कारक राज्य तथा यह अक्षय खजाना ले लूं। यह विचार कर उसने राजा पर घात (वार) किया, जिसे देखकर शेष नागरिक-जन चिल्लाने लगे कि हाय-हाय! यह क्या अनर्थ हुआ। तथापि राजा ने उक्त घात वचा लिया।

राजा अक्रूर मन वाला होने से अपनी भुजाओं से उसे पकड़ कर कहने लगा कि हे भाई! तूने यह कुल के अनुचित प्रतिकूल कार्य कैसे किया? हे समर! जो तुझे यह राज्य अथवा यह निधान चाहिए तो प्रसन्नता से ग्रहण कर और मैं व्रत ग्रहण करता हूँ। यह सुन कर क्रोध के फल से अज्ञात और विवेक-हीन समरविजय उस नाव को छोड़कर राजा से अलग हो गया।

जिसके कारण भाई-भाई भी अकारण इस प्रकार शत्रु हो जाते हैं, ऐसे इस निधान का मुझे काम ही नहीं। यह सोचकर उसे त्याग राजा अपने नगर को आया।

इधर समरविजय भ्रमरों की पंक्ति समान पाप के वश से सन्मुख पड़े हुए उक्त रत्न निधान को भी न देखकर मन में सोचने लगा कि निश्चय उसे राजा ले गया है। पश्चात् वह लुटेरा होकर अपने भाई के देश को लूटने लगा, किसी समय सामन्त-सरदारों ने उसे पकड़ कर राजा के सन्मुख उपस्थित किया। तब राजा ने उसे क्षमा कर दिया व राज्य देने को कहते हुए भी समर सोचने लगा कि मेरा भाई प्रसन्नता से राज्य देता है वह न लेकर अपने बल से राज्य लेना चाहिये।

इस प्रकार कभी राजा के शरीर पर आक्रमण करता, कभी खजाना लूटता, कभी देश को लूटता था और पकड़ाते हुए भी

राजा उसे वारंवार क्षमा कर राज्य ग्रहण करने के लिये आग्रह करता था।

तब लोगों में चर्चा चली कि, अहो! भाई-भाई में अन्तर देखो कि एक तो असदृश दुर्जन है व दूसरे में निरुपम सौजन्यता है।

अब राजा महान वैराग्यवान हो, उदासीनता से दिन व्यतीत करता था। इतने में वहां प्रबोध नामक प्रवर ज्ञानी का आगमन हुआ। उनको नमन करने के लिये आनन्दित हो राजा सपरिवार वहां आया और वहां धर्म सुनकर अवसर पाकर अपने भाई का चरित्र पूछने लगा।

गुरु बोले कि—महाविदेह क्षेत्रान्तर्गत मंगलमय मंगलावर्त विजय में सौगंधिकपुर में मदन श्रेष्ठि के सागर और कुरंग नामक दो पुत्र थे। उन दोनों भाइयों ने अपनी बाल्योचित क्रीड़ा करते हुए एक समय दो बालक तथा एक मनोहर बालिका देखी। तब उन्होंने उनको पूछा कि तुम कौन हो? उनमें से एक बोला कि:-इस जगत में सुप्रसिद्ध मोह नामक राजा है। उक्त मोह राजा का दुश्मन रूपी हाथी के बच्चे को भगाने में केशरी सिंह समान राग केशरी नामक पुत्र है और उसका मैं सागर समान गम्भीर आशय वाला लोभसागर नामक पुत्र हूँ और यह परिग्रहाभिलाष नामक मेरा ही विनयवान पुत्र है तथा यह बालिका मेरे भाई क्रोधवैश्वानर की क्रूरता नामक पुत्री है।

यह सुनकर वे प्रसन्न हो परस्पर खेलने लगे और सागर नामक श्रेष्ठि पुत्र क्रूरता के अतिरिक्त शेष दो बालकों के साथ मित्रता करने लगा। कुरंग नामक श्रेष्ठी पुत्र उन बालकों के साथ तथा विशेष करके क्रूरता के साथ मित्रता करने लगा। क्रमशः

वे दोनों श्रेष्ठी पुत्र बाल्यय व्यतीत करके मनोहर यौवनावस्था को प्राप्त हुए।

अब वे मित्रों की प्रेरणा से द्रव्योपार्जन करने के हेतु, मां बाप की मनाई होते हुए भी बेचने का माल साथ में लेकर देशान्तर को रवाना हुए। मार्ग में उनके अन्तराय कर्म के उदय से उनका बहुतसा धन भीलों ने लूट लिया, उससे जो कुछ बचा उसे लेकर वे धवलपुर नगर में आए।

इस द्रव्य से वे वहां दूकान लगा कर व्यापार करने लगे। उसमें उन्होंने सहस्रों दुःख सहकर दो हजार स्वर्ण मुद्राएं कमाई। जिससे उनकी तृष्णा बहुत बढ़ गई, उससे वे कपासिये तथा तिल की वखारें भरने लगे, कृषि करने लगे और ईख के बाड़ कराने लगे व त्रस जीवों से मिश्रित तिलों को घाणी में पीलाणे लगे, गुलिका आदि का व्यापार करने लगे।

इस प्रकार करते हुए उनके पास पाँच सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ हो गई। तब उनको दश सहस्र की व क्रमशः लक्ष स्वर्ण मुद्राओं की इच्छा हुई, उतनी प्राप्त हो जाने पर लोभसागर नामक मित्र के प्रताप से क्रोड़ मुद्राएं पूरी करने की इच्छा हुई।

तब भिन्न २ देशों में गाड़ियों की श्रेणियां भेजने लगे, समुद्र में जहाज चलाने लगे तथा ऊँटों की कतारें फिराने लगे व राज दरबार से भांति-भांति के इजारे पट्टे से रखने लगे तथा कुट्टन-खाने (गणिका गृह) रखकर भी धनोपार्जन करने लगे एवं घोड़ों की शर्तों के अखाड़े चलाने लगे। इत्यादिक करोड़ों पाप कर्मों द्वारा यावत् उनको करोड़ सुवर्ण मुद्राएं भी मिल गई, तथापि लोभसागर नामक पाप मित्र के वश उनको करोड़ रत्न प्राप्त करने की इच्छा हुई।

इससे वे सम्पूर्ण धन माल जहाज में भरकर रत्नद्वीप की ओर रवाना हुए. इतने में कुरंग के कान में क्रूरता सूत्र लग कर कहने लगी कि–तेरे इस भागीदार भाई को मारकर वे सम्पूर्ण द्रव्य तूं अपने स्वाधीन कर क्योंकि इस जगत् में सब जगह धनवान् ही सुजन माने जाते हैं। इस प्रकार वह नित्य उसे उत्तेजित करती, और उसके चित्त में भी यही बात बैठती गई, इससे उसने समय पाकर अपने भाई सागर को धक्का देकर समुद्र में डाल दिया। सागर अशुभ ध्यान में रह दरिया (समुद्र) के पानी से पीड़ित होकर मृत्यु वश हो तीसरी नरक में नारकी हुआ।

इधर कुरंग अपने भाई का मृत कार्य कर हृदय में प्रसन्न होता हुआ ज्योंही थोड़ी दूर गया होगा त्योंही जहाज झट से फूट गया। जहाज के सब लोग डूब गये व सर्व माल गल गया तो भी कुरंग को एक पटिया मिल जाने से वह जैसे तैसे चौथे दिन समुद्र के किनारे आ पहुँचा। (इतने दुःखी होते भी) वह विचारने लगा कि अभी भी धनोपार्जन करके भोग भोगूंगा। ऐसा खूब सोच कर वन में भटकने लगा। इतने में एक सिंह ने उसको मार डाला और वह धूमप्रभा नामक नरक में पहुँचा।

पश्चात् वे दोनों संसार भ्रमण करके जैसे तैसे अंजन नामक पर्वत में सिंह हुए, वे एक गुफा के लिये युद्ध करके मृत्यु को प्राप्त हो चौथे नरक में गये। तदनन्तर सर्प हुए वहां एक निधान के लिये महायुद्ध करते हुए शुभध्यान के अभाव से धूमप्रभा नामक नारक पृथ्वी में गये।

तत्पश्चात् बहुत से भव भ्रमण कर एक वणिक की स्त्रियां के रूप में हुए। वहां वे पति के मरने के बाद द्रव्य के लिये

संकल्प कर छट्ठे नरक में गए। पुनः कितने ही भव भ्रमण करके फिर एक राजा के पुत्र हुए। ये बाप की मृत्यु के अनन्तर राज्य के लिये कलह करते हुए मार कर तमतमा नामक सातवीं नरक में गए।

इस प्रकार द्रव्य के हेतु इन्होंने अनेक प्रकार की यातनाएं सहन की, तथापि न तो इसे किसी को दान ही में दिया और न स्वयं ही भोग सके। पश्चात् हे राजन्! किसी भव में उनके कुछ ऐसे ही अज्ञान तप करने से सागर का जीव तू राजा हुआ है और कुरंग का जीव तेरा भाई हुआ है। हे राजन्! इसके बाद का समरविजय का वृत्तान्त तो तुझे भी प्रत्यक्ष रीति से ज्ञात ही है, इसके अतिरिक्त वह तेरा भाई तुझे चारित्र लेने के अनन्तर पुनः एक बार उपसर्ग करेगा।

तत्पश्चात् वह क्रूरता सहित रह कर त्रस और स्थावर जीवों का अहित करता हुआ, असाध्य दुःखों से शरीर को जलाता हुआ अनंत भव भ्रमण करेगा।

यह सुन महान् वैराग्य प्राप्त कर राजा ने अपने भानजे हरिकुमार को राज्य भार सौंप दीक्षा ग्रहण की।

पश्चात् क्रमशः महान् तप से शरीर को सुखा तथा विविध पवित्र सिद्धान्त सीख, उज्ज्वल हो उसने अत्यंत कठिन एकल विहार अंगीकार किया। यह पूज्य मुनिराज किसी नगर के बाहर लम्बी भुजाएं करके कायोत्सर्ग में खड़ा था, इतने में पापिष्ट समर ने कहीं जाते हुए उसको देखा। तब वैर का स्मरण कर उसने मुनि के स्कंध पर तलवार का आघात किया, जिससे उक्त मुनि अति पीड़ित हो तत्काल पृथ्वीतल पर गिर पड़े।

मुनि सोचने लगे कि हे जीव ! तू ने अज्ञान वश निर्विवेक होकर नरक में अनन्त बार दुस्सह वेदनाएं सहन करी हैं व तिर्यंच गति में भी तूने महान् भार सहन करने को, अंकन करने व दुखाने की, लम्बी दूर चलने की, शीत, ताप सहन करने की त भूख, प्यास आदि की असह्य दुःख पीड़ाएं सहन की हैं इसलिये हे धीर आत्मन् ! इस अल्प पीड़ा में तूं विषाद मत कर, कारण कि—समुद्र को तैर कर पार कर लेने पर छिछले पानी में कौन डूबता है ?

इससे हे जीव ! तूं विशुद्ध मन रखकर सकल जीवों पर क्रूर भाव का त्याग कर और इन बहुत से कर्म क्षय कराने में सहायता कराने वाले समरविजय पर तो विशेषता से क्रूर भाव का त्याग कर ।

हे जीव ! तेने पूर्व में भी क्रूरता नहीं की, जिससे यहां तेने धर्म पाया है, ऐसा चिन्तवन करते हुए उसने पाप निवारण करने के साथ ही प्राण का भी त्याग किया। वहां से वह सुखमय सहस्रार नामक देवलोक में सुकृत के जोर से देवता हुआ, वहां से च्यवन होने पर वह संतोषशाली जीव महा-विदेह में मनुष्य होकर मुक्ति पावेगा ।

इस प्रकार अशुद्ध परिणाम को दूर करने के लिये श्री कीर्तिचन्द्र राजा का चरित्र भली भांति सुनकर जन्म, जरा व मृत्यु से भयभीत हे भव्य जनों ! तुम मुख्य बुद्धि से अक्रूरता नामक गुण को धारण करो ।

❀ इति कीर्तिचन्द्र राजा की कथा समाप्त ❀

— ※ —

अक्रूरता रूप पञ्चम गुण का वर्णन किया, अब भीरुता रूप गुण का वर्णन करते हैं :—

इह परलोयावाए, संभावंतो न वट्टए पावे ।
बीहइ अजसकलंका, तो खलु धम्मारिहो भीरू ॥१३॥

मूल का अर्थ— इस लोक के व परलोक के संकटों का ार करके ही पाप में प्रवृत्त न होवे और अपयश के कलंक डरता रहे वह भीरु कहलाता है। इससे वैसा पुरुष ही धर्म योग्य समझा जाता है ।

टीका का अर्थ— इस लोक के अपाय याने राजनिग्रह आदि परलोक के अपाय याने नरक गमनादिक. उनकी सम्भावना करता हुआ, (जो भीरु होवे वह) पाप में याने हिंसा, झूठ आदि में न वर्ते याने प्रवृत्त न हो तथा अपयश के कलंक से डरता हो अर्थात् ऐसा न हो कि अपने कुल को कलंक लग जाय. इस कारण से भी वह पाप में प्रवर्त्तित नहीं होता। उससे याने उस कारण खलु याने वास्तव में इस शब्द का सम्बन्ध ऊपर के पद के साथ जोड़ना, इस प्रकार कि-धर्म के अर्ह याने धर्म के योग्य, जो भीरु याने पाप से डरने वाले हों वही वास्तव में हैं, विमल के समान ।

विमल की कथा इस प्रकार है ।

श्री नन्दन (लक्ष्मी के पुत्र) समकर (मगर के चिन्ह वाले) कामदेव के समान श्री नन्दन (लक्ष्मी से आनन्द देने वाला समकर) कुशस्थल नामक नगर था। वहाँ चन्द्र के समान लोकप्रिय कुवलयचन्द्र नामक एक सेठ था। उस सेठ की आनन्दश्री नामक स्त्री थी, जो पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की स्त्री लक्ष्मी के समान

आऊं। उसकी इस इच्छा पर विमल बोला कि – तुम्हारी इच्छा से तुम आओ, इसमें मुझे क्या पूछते हो।

अब वे एक नगर के समीप आ पहुँचे, वहां रसोई के लिये विमल ने अग्नि जलाई। इतने में पथिक ने आकर विमल से अग्नि मांगी। तब विमल कहने लगा कि–हे पथिक ! तुझे खाना हो तो मेरे पास खा ले, परन्तु अग्नि आदि भयंकर वस्तु तो मैं तुझे नहीं दे सकता। कारण कि शास्त्र में ऐसी वस्तुएं देने की मनाई की गई है।

इसी से कहा भी है कि— मद्य, मदिरा मांस, औषध, बूंटी, अग्नि, यंत्र तथा मंत्रादिक वस्तुएँ पाप भीरु श्रावकों ने कदापि किसी को नहीं देनी चाहिये। और भी कहा है कि—अग्नि, विष, शस्त्र, मद्य और पांचवां मांस ये पांच वस्तुएं चतुर पुरुषों ने किसी से न तो लेना और न किसी को देना ही चाहिये।

तब वह पथिक क्रोधित हो कहने लगा कि – रे दुष्ट निकृष्ट व दुष्ट ! तू धर्मिष्ठता का ढोंग कर मेरे साथ इस प्रकार उत्तर प्रत्युत्तर करता है ? यह कह वह लोगों को डराने के लिये इस प्रकार अपना समस्त शरीर बढ़ाने लगा कि जिससे मानो, आकाश भी भयातुर होकर ऊंचा चढ़ गया। तथा वह विमल को कहने लगा कि—अरे ! मैं अत्यंत भूखा हूँ। इसलिये रसोई करने को मुझे अग्नि दे, अन्यथा मैं तेरे प्राण हरूंगा। तब विमल बोला कि – हे भद्र ! इन चंचल प्राणों के लिये कौन पाप-भीरु ऐसा पापमय कदम धरे।

जो इन अस्थिर, मलीन और परवश प्राणों से स्थिर, निर्मल और स्वाधीन धर्म साधन किया जा सकता हो, तो फिर और क्या चाहिये। अतएव तुझे करना हो सो कर, पर

दमनों को वंदी करने वाला पुरुषोत्तम नामक राजा है। उसका बलवान दुश्मनों को जीतने वाला अरिमल्ल नामक इकलौता पुत्र है। वह आज क्रीड़ागृह में सो रहा था, इतने में उसको सर्प ने डस लिया।

तब उसकी स्त्रियों के जोर से चिल्लाने से सेवकों ने दौड़कर के दुष्ट सर्प को बहुत देखा, परन्तु उसका पता न लगा। इतने में राजा भी वहां आ पहुँचा और कुमार को मृतवत् देखकर मूर्छित हो गया तथा पवनादिक उपचार से सुधि में आया। पश्चात् विविध वैद्यों ने अनेक उपचार क्रियाएँ की, किन्तु कुछ भी गुण नहीं हुआ। तब राजा ने निम्नानुसार अपना निश्चय प्रकट किया।

हे प्रधानों! जो किसी भी प्रकार इस कुमार को कुछ अनिष्ट होगा तो मैं भी प्रज्वलित अग्नि ही की शरण लूंगा। इस बात की खबर रानियों को होते ही वे भी करुण स्वर से रुदन कर रही हैं, और सामंत-सरदार भी विषाद युक्त हो रहे हैं, तथा सम्पूर्ण नगरजनों में खलबली मच रही है। अब राजा ने आकुल होकर नगर में ढिंढोरा फिरवाया है कि जो कोई इस कुमार को जीवित करे उसे मैं अपना आधा राज्य दूं।

यह सुन सहदेव विमल को कहने लगा कि– हे भाई! यह उपकार करने योग्य है, इसलिये मणि को घिसकर तू कुमार पर छींट कि जिससे यह जल्दी जीवित होवे। विमल ने कहा कि– हे बन्धु! राज्य के कारण ऐसा भारी अधिकरण कौन करे? तब सहदेव कहने लगा कि—कुमार को जीवित करके अपने कुल का दारिद्र दूर कर। कारण कि कदाचित् कुमार जीवित होने पर जिन धर्म को भी पालन करेगा।

तब राजा विमल व सहदेव को हाथी पर चढ़ाकर अपने प्रासाद को लाया; और राज्य लेने के लिये विनती करने लगा। तब विमल ने उसे निम्नाङ्कित उत्तर दिया।

राज्य लेने से एक तो खर कर्म करना पड़ते हैं तथा दूसरे परिग्रह वृद्धि होती है। इसलिये हे राजन्! पाप-मूल राज्य के साथ मुझे काम नहीं। तब सहदेव को कुछ उत्सुक समझ कर उसको राजा ने हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, देश, नगर आदि सर्वस्व आधा २ बांट कर, स्वाधीन किया। तथा कमल सम्पन्न सरोवर की भांति कमला (लक्ष्मी) से परिपूर्ण एक धवल-प्रासाद राजा ने उसको दिया, और विमल को उसकी अनिच्छा होते हुए भी नगर सेठ का पद दिया।

तदनन्तर सहदेव तथा विमल ने मिलकर अपने माता पिता आदि का योग्य आदर सत्कार किया। पश्चात् विमल वहां रह कर जिनधर्म का पालन करता हुआ काल व्यतिक्रमण करने लगा। परन्तु सहदेव राज्य में राष्ट्र में और विषयों में अतिशय लीन होकर नवीन कर प्रचलित करने लगा। पुराने कर बढ़ाने लगा। तथा लोगों को सख्ती से दंड देने लगा। वैसे ही पापोपदेश देने लगा। अनेक अधिकरण बढ़ाने लगा। दुश्मनों के देश तोड़ने लगा (भंग करने लगा) इत्यादि अशुभ ध्यान में फंस गया। उसे देखकर विमल एक वक्त इस प्रकार कहने लगा।

हे भाई! हाथी के कर्ण के समान चपल राज्यलक्ष्मी के कारण अपनी नियम शृंखला का भंग कर कौन पाप में प्रवर्तित होता है। हे भाई! अग्नि में प्रवेश करना उत्तम, सर्प के मुख के विवर में हाथ डालना अच्छा तथा चाहे जिस विषम रोग की पीड़ा उत्तम, परन्तु व्रत की विराधना करना अच्छा नहीं।

यह सुन कर पानी से भरे हुए मेघ के समान सहदेव ने काला मुंह किया, जिससे विमल ने उसे अयोग्य जानकर मौन धारण कर लिया। पश्चात् सहदेव की जिनधर्म पर से प्रीति कम होती गई और पाप मति स्फुरित होने से वह विरतिहीन होकर नाना प्रकार के अनर्थ-दंड करके सम्यक्त्व भ्रष्ट हो गया। पश्चात् किसी प्रथम के विरोधी पुरुषने किसी समय कपट से सहदेव को छुरी से मार डाला, और वह प्रथम नारकी में गया।

तदनंतर महान् गंभीर संसार समुद्र में भटकते हुए असह्य दुःख भोग कर जैसे तैसे मनुष्य भव प्राप्त कर कर्म क्षय करके वह मुक्ति प्राप्त करेगा।

इधर अत्यंत पाप-भीरु विमल गृहिधर्म का पालन कर प्रवर देवता हो महाविदेह में जन्म लेकर सिद्धि पावेगा।

इस प्रकार कर्म की अणियों से अस्पृष्ट विमल का यह चरित्र जानकर, हे जनों! तुम सम्यक्त्व और चरित्र में धीर होकर पापभीरु बनो। इस प्रकार विमल का दृष्टांत समाप्त हुआ।

—+×+—

भीरुता रूप षष्ठ गुण कहा, अब अशठता रूप सप्तम गुण को स्पष्ट करते हैं:—

असढो परं न वंचइ, वीससणिज्जो पसंसणिज्जो य।
उज्जमइ भावसारं, उचिओ धम्मस्स तेणेसो ॥ १४ ॥

मूल का अर्थ—अशठ पुरुष दूसरे को ठगता नहीं, उससे वह विश्वास करने योग्य तथा प्रशंसा करने योग्य होता है, और भाव पूर्वक उद्यम करता है, अतः वह धर्म के योग्य माना जाता है।

टीका का अर्थ--शठ याने कपटी, उससे विपरीत वह अशठ अर्थात निष्कपटी पुरुष, पर याने अन्य को वंचता नहीं याने ठगता नहीं।

इसी से वह विश्वसनीय याने प्रतीति योग्य होता है, परन्तु कपटी पुरुष तो कदाचित् न ठगता होवे तो भी उसका कोई विश्वास करता नहीं।

यदुक्तं—

मायाशील: पुरुषो यद्यपि न करोति किंचिदपराधम्।
सर्प इवाऽविश्वास्यो, भवति तथाऽप्यात्मदोषहतः ॥१॥

जैसे कहा है कि—कपटी पुरुष यद्यपि कुछ भी अपराध न करे, तथापि अपने उक्त दोष के जोर से सर्प के समान अविश्वासी रहता है तथा उक्त अशठ पुरुष प्रशंसनीय याने गुण गाने के योग्य भी होता है।

यदवाचि—

यथा चित्तं तथा वाचो, यथा वाचस्तथा क्रिया।
धन्यास्ते त्रितये येषां, विसंवादो न विद्यते ॥ १ ॥

कहा है कि-जैसा चित्त होता है वैसी ही वाणी होती है और जैसी वाणी होती है वैसी ही कृति होती है। इस प्रकार तीनों विषय में जिन पुरुषों का अविसंवाद हो, वे धन्य हैं तथा अशठ पुरुष धर्मानुष्ठान में भावसार पूर्वक याने सद्भाव पूर्वक अर्थात अपने चित्त को प्रसन्न करने के लिए उद्यम करता है याने प्रवर्तित होता है, न कि पर रंजन के लिये। स्वचित्त रंजन यह वास्तव में कठिन कार्य है।

तथा चोक्तं—

भूयांसो भूरिलोकस्य, चमत्कारकरा नराः।
रंजयन्ति स्वचित्तं ये, भूतले तेऽथ पञ्चषाः ॥ १ ॥

इसीसे कहा है कि— अन्य बहुत से लोगों को चमत्कार उत्पन्न करने वाले मनुष्य तो बहुत मिल जाते हैं, परन्तु जो इस पृथ्वी पर अपने चित्त का रंजन करते हैं, वे तो पाँच छः ही मिलेंगे।

यथा —

कृत्रिमैर्डम्बरैश्चित्रैः शक्यस्तोषयितुं परः ।
आत्मा तु वास्तवैरेव हन्त कः परितुष्यति ॥ २ ॥

और भी कहा है कि - दूसरों को तो अनेक प्रकार के कृत्रिम आडंबरों से प्रसन्न किया जा सकता है, परन्तु यह आत्मा तो वास्तविक रचना ही से परितोष पाती है। इसी कारण से ये याने अशठ पुरुष पूर्व वर्णित स्वरूप वाले, धर्म को उचित याने योग्य माने जाते हैं, सार्थवाह के पुत्र चक्रदेव के सदृश।

❀ चक्रदेव का चरित्र इस प्रकार है ❀

विदेह देश में बहुत-सी बस्ती से भरपूर चम्पा नामक नगर था, वहां अतिक्रूर रुद्रदेव नामक सार्थवाह था। उक्त सार्थवाह की सोमा नामक भार्या थी, वह स्वभाव ही से सौम्य थी। उसने बालचन्द्रा नामक गणिनी के पास से गृहिधर्म अंगीकार किया था। उसे कुछ विषय से विमुख हुई देखकर उसका पति क्रोधित हो कहने लगा कि - सर्प के समान भोग में विघ्न करने वाले इस धर्म को छोड़ दे।

उसने उत्तर दिया कि — रोगों के समान भोगों की मुझे आवश्यकता नहीं, तब वह बोला कि- हे मूर्ख स्त्री ! तू दृष्ट को छोड़कर अदृष्ट की किसलिये कल्पना करती है। वह बोली कि - ये विषय तो पशु भी भोग सकते हैं, यह प्रत्यक्ष है और विविध प्रकार का धर्म करने से तो सब कोई आज्ञा पालें ऐसा ऐश्वर्य प्राप्त होता है, यह तुम प्रत्यक्ष देखते हो। तब उत्तर देने

में असमर्थ हुआ रुद्रदेव सोमा से विलक्ष मन करके उसके ऊपर अतिशय विरक्त हो गया तथा उसके साथ बोलना आदि बन्द करता है।

पश्चात् उसने दूसरी स्त्री से विवाह करने का विचार किया, परन्तु सोमा के रहने के कारण प्राप्त नहीं कर सका। इससे उसे मार डालने के लिये एक सर्प को घड़े में डालकर वह घड़ा घर में रख दिया। पश्चात् वह स्त्री को कहने लगा कि– हे प्रिया! अमुक घड़े में से पुष्प-माला निकाल ला, तदनुसार सरल-हृदया सोमा ने घड़े में ज्योंही अपना हाथ डाला, त्यों ही उसमें स्थित काले नाग ने उसे डस लिया।

उसने पति को कहा कि– मुझे तो सर्प ने डस लिया है, तब महाकपटी होने से गारुडियों को बुलाने के लिये चिल्ला २ कर शोर करने लगा। इतने में तो तुरन्त उसके केश खिर पड़े, दांत गिर गये और विष से मानो भयातुर हो उस प्रकार प्राण दूर हो गये। वह सोमा सम्यक्त्व कायम रखकर सौधर्म-देवलोक के लीलावतंसक नामक विमान में पल्योपम के आयुष्य वाली देवांगना हुई।

रुद्र परिणामी उस रुद्रदेव ने अब नागदत्त नामक श्रेष्ठी की नागश्री नाम की पुत्री से विवाह किया और अनीति मार्ग में रत रहता हुआ पंच विषय भोगने लगा। वह रुद्र ध्यान में तल्लीन रहकर मृत्यु पा प्रथम नारकी में खाडखड नामक नरक-वास में पल्योपम के आयुष्य से नारकीपन में उत्पन्न हुआ।

अब सोमा का जीव सौधर्म-देवलोक से च्यवन कर विदेह देशान्तर्गत सुसुमार पर्वत में श्वेतकांति वाला हाथी हुआ। रुद्रदेव का जीव भी नारकी से निकल कर उसी पर्वत में शुकरूप

में उत्पन्न हुआ, वह मनुष्य की भाषा बोलता हुआ शुकों के साथ क्रीड़ा करता हुआ वहां भ्रमण करता था। उसने किसी समय उक्त हाथी को अनेक हथिनियों के साथ फिरता हुआ देखकर पूर्व भव के अभ्यास से महा-कपटी होकर निम्नानुसार विचार किया।

इस हाथी को ऐसे विषय सुख से किस प्रकार मैं अलग करूं, इस विषय में सोचता हुआ वह अपने घोंसले में आकर बैठ गया। इतने में वहां चंद्रलेखा नामकी विद्याधरी को हरण क लीलारति नामक विद्याधर आ पहुँचा, वह भयभीत होने से उक्त शुक (तोते) को कहने लगा कि - हम इस झाड़ी घुसकर बैठते हैं, यहां एक दूसरा विद्याधर आने वाला है उसको मेरा पता मत देना, और वह वापस चला जावे तब मुझे कह देना। हे दुग्ध और मधु के समान मृदुभाषी शुक! जो तू मेरा यह उपकार करेगा तो, मैं तेरा भी योग्य प्रत्युपकार करूंगा।

इतने में वह विद्याधर आ पहुँचा और वहां लीलारति को न देखकर लौट गया, तब शुक ने यह बात छिपे हुए विद्याधर को कही जिससे वह हृदय में प्रसन्न हुआ। इसी बीच में उक्त हाथी स्वेच्छा से घूमता हुआ वहां आ पहुँचा, उसको देखकर शुक विचार करने लगा कि यह उत्तम अवसर है। इससे वह महा-कपटी होकर हाथी के पास जा अपनी स्त्री से कहने लगा कि वसिष्ठ मुनि ने कहा है कि यह कामित तीर्थ नामक क्षेत्र है। यहां जो भृगुपात करता है, वह मनवांछित फल पाता है, यह कह कर स्त्री के साथ वहां से झंपापात के ढंग से गिरकर नीचे कूद गया।

पश्चात् उसके कहने से लीलारति विद्याधर अपनी स्त्री सहित चपल कुंडल बनाता हुआ आकाश में उड़ता गया। यह दृश्य देखकर हाथी विचार करने लगा कि यह वास्तव में कामित तीर्थ है क्योंकि यहां से गिरा हुआ शुक का जोड़ा विद्याधर का जोड़ा बनगया है। इसलिये मुझे भी इस तिर्यंचपन से क्या काम है? ऐसा सोचकर पर्वत पर से उसने वहां झंपापात किया, इतने में शुक का जोड़ा वहां से उड़ गया।

इधर उक्त हाथी के अंगोपांग चूरचूर हो गये व उसे महा वेदना होने लगी, तथापि वह शुभ अध्यवसाय रखकर व्यंतर देवता हुआ। अतिशय क्लिष्ट परिणामी और विपयासक्त शुक मरकर प्रथम नारकी के अत्यन्त दुस्सह दुःख से भरपूर लोहिताक्ष नामक नरकवास में गया।

इसी बीच विदेह क्षेत्र में चक्रवाल नगर में अप्रतिहत चक्र नामक एक महान् सार्थवाह रहता था और उसकी सुमंगला नामक स्त्री थी। उक्त हाथी का जीव व्यंतर के भव से च्यवन करके उनके घर पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम चक्रदेव रखा गया। वह सदैव अपने गुरु-जन की सेवा में तत्पर रहने लगा।

उक्त शुक का जीव भी नारकी में से निकलकर उसी नगर में सोम पुरोहित का यज्ञदेव नामक पुत्र हुआ। पश्चात् चक्रदेव व यज्ञदेव दोनों युवावस्था को प्राप्त हुए।

उन दोनों में एक को शुद्ध भाव से और दूसरे को कपट भाव से मित्रता हो गई। पश्चात् पूर्वकृत कर्म के दोष से पुरोहित का पुत्र एक समय यह सोचने लगा कि— इस चक्रदेव को ऐसी अतुल लक्ष्मी के विस्तार से किस प्रकार भ्रष्ट करना। इस प्रकार सोचते २ उसे एक उपाय सूझा। उसने निश्चय किया कि चन्दन

सार्थवाह का घर लूटकर उसका धन चक्रदेव के घर में रखना व बाद में राजा को कहकर इसे पकड़ा कर इसकी सर्व-सम्पत्ति जप्त करवाना।

तदन्तर उसने वैसा ही कर चक्रदेव के समीप आकर कहा कि हे मित्र! मेरा यह द्रव्य तू तेरे पास घर में रख ले। तब सरल हृदय चक्रदेव ने वही किया।

इतने में नगर में चर्चा चली कि चन्दन सार्थवाह का घर लूट गया है। यह सुन चक्रदेव ने यज्ञदेव को पूछा कि—हे मित्र! यह द्रव्य किसका है? तब वह बोला कि—यह मेरा द्रव्य है, किन्तु पिता के भय से तेरे यहां छिपाया है, अतएव हे चक्रदेव! तू इस विषय में लेश-मात्र भी शंका मत कर।

इधर चन्दन श्रेष्ठी ने अपना जो-जो द्रव्य चोरी गया था, वह राजा से कहा, जिससे राजा ने नगर में निम्नाङ्कित उद्घोषणा कराई। जिस किसी ने चन्दन का घर लूटा हो, वह इसी वक्त मुझे आकर कह जावेगा तो उसे दंड नहीं दिया जावेगा, अन्यथा बाद में कठिन दंड दिया जावेगा।

पांच दिन व्यतीत होने के उपरांत पुरोहित पुत्र यज्ञदेव राजा के पास जाकर कहने लगा कि—हे देव! यद्यपि अपने मित्र के दोष प्रकट करना योग्य नहीं। तथापि यह अति विरुद्ध कार्य है यह सोचकर मैं उसे अपने हृदय में छुपा नहीं सकता कि चन्दन का द्रव्य अवश्य चक्रदेव के घर में होना चाहिए।

राजा बोला—अरे! वह तो बड़ा प्रतिष्ठित पुरुष है। वह ऐसा राज्य-विरुद्ध काम कैसे कर सकता है? तब यज्ञदेव बोला महाराज! महान् पुरुष भी लोभान्ध होकर मूर्ख बन जाते हैं। राजा बोला अरे! चक्रदेव तो सदैव संतोष रूपी अमृत पान में

परायण सुना जाता है। चक्रदेव बोला– हे महाराज! वृक्ष भी इस द्रव्य को पाकर अपनी पीठ से घेर लेते हैं। राजा बोला– यह तो बड़ा कुलीन सुनने में आता है। यज्ञदेव बोला– महाराज! इसमें निर्मल कुल का क्या दोष है? क्या सुगन्धित पुष्पों में कीड़े नहीं होते? राजा बोला– जो ऐसा ही है तो उसके घर की झड़ती लेना चाहिए। यज्ञदेव बोला– आपके सन्मुख क्या मेरे जैसे व्यक्ति से असत्य बोला जा सकता है।

तब राजा ने कोतवाल तथा चन्दन श्रेष्ठी के भंडारी को बुलाकर कहा कि– तुम चक्रदेव के घर जाकर चोरी गये हुए माल की शोध करो।

तब कोतवाल विचार करने लगा कि– अरे! यह तो असम्भव बात की आज्ञा दी जा रही है। क्या सूर्य बिम्ब में अन्धकार का समूह पाया जाता है? तो भी स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही चाहिए, यह सोचकर वह चक्रदेव के घर पर आया और कहने लगा कि– हे भद्र! क्या तूं चन्दन के चोरी गये हुए द्रव्य के विषय में कुछ जानता है?

चक्रदेव बोला– नहीं, नहीं! मैं कुछ भी नहीं जानता। कोतवाल बोला– तो तूं मुझ पर जरा भी क्रोध न करना, क्योंकि मैं राजा की आज्ञानुसार तेरे घर की कुछ तपास करूंगा। चक्रदेव बोला– इसमें क्रोध करने का क्या काम है? क्योंकि न्यायवान् महाराजा की यह सब योजना केवल प्रजा पालन ही के लिए है।

तब कोतवाल उसके घर में घुसकर ध्यानपूर्वक देखने लगा। तो उसने चन्दन के नाम वाला स्वर्ण-पात्र देखा। तब कोतवाल खिन्न-चित्त हो पूछने लगा कि– हे चक्रदेव! तुझे यह पात्र कहाँ

से मिला है? तब चक्रदेव विचार करने लगा कि- मित्र की धरोहर को कैसे प्रकट करूं, इससे वह बोला कि यह मेरा निज का है। कोतवाल बोला- तो इस पर चन्दन का नाम क्यों है? चक्रदेव बोला- किसी भी प्रकार से नाम बदल जाने से ऐसा हुआ जान पड़ता है। कोतवाल बोला- जो ऐसा है तो बता कि इस पात्र में कितने मूल्य का सुवर्ण है? चक्रदेव बोला-चिरकाल से रखा हुआ है, अतएव मुझे ठीक-ठीक स्मरण नहीं, तुम्हीं देखलो। कोतवाल बोला- हे भांडारिक! इसमें कितना द्रव्य लगा है? उसने उत्तर दिया कि-दस हजार। तब वही निकलवा कर देखा तो सब उसी अनुसार लिखा हुआ पाया, तब कोतवाल चक्रदेव को कहने लगा कि- हे भद्र! सत्य बात कह दे।

चक्रदेव ने विचार किया कि, मुझ पर विश्वास धरने वाले मेरे साथ मिट्टी में खेलने वाले सहृदय मित्र का नाम कैसे बताऊँ? यह सोचकर पुनः बोला कि- यह तो मेरा ही है। कोतवाल बोला- तेरे घर में पर-द्रव्य कितना है?

चक्रदेव बोला- मेरा तो स्वतः का ही बहुत-सा है, मुझे पर की आवश्यकता ही क्या है। तब कोतवाल ने सारे घर को खोज करके उक्त छिपाया हुआ द्रव्य पाया। जिससे उसने कोपित होकर चक्रदेव को बांध कर राजा के सन्मुख उपस्थित किया।

राजा उससे कहने लगा कि- तेरे समान अप्रतिहत चक्र सार्थवाह के पुत्र में ऐसी बात संभव नहीं, इसलिये जो सत्य बात हो सो कह दे। तब परद्रोह करने से विमुख रहने वाला चक्रदेव कुछ भी नहीं बोला। जिससे राजा ने उसको नाना प्रकार से विडंबित करके देश से निर्वासित कर दिया।

अब चक्रदेव के मन में बड़ी चिन्ता उत्पन्न हुई और महान

पराभव रूप दावानल से उसका शरीर जलने लगा। जिससे वह सोचने लगा कि अब मान भ्रष्ट होकर मेरा जीवित रहना किस काम का है ? कहा भी है कि—

प्राण छोड़ना उत्तम, परन्तु मान भंग सहन करना अच्छा नहीं, कारण कि प्राण त्याग करने में तो क्षण भर दुःख होता है, परन्तु मान भंग होने से प्रतिदिन दुःख होता है।

यह विचार कर नगर के बाहर एक वट वृक्ष में उसने अपने गले में फांसी दी, इतने में उसके गुण से पुरदेवता ने शीघ्र उस पर प्रसन्न होकर राजमाता के मुख में स्थित हो चक्रदेव के फांसी लेने तक का वृत्तान्त कहा, जिससे दुःखित राजा सोचने लगा—

उपकारी व विश्वस्त आर्यजन पर जो पाप का आचरण करे, वैसे असत्य प्रतिज्ञा वाले मनुष्य को हे भगवती वसुधा ! तूं कैसे धारण करती है।

(नगर देवता ने ऐसा विचार राजा के मन में प्रेरित किया) जिससे राजा ने यह विचार कर पुरोहित पुत्र को शीघ्र पकड़वा कर कैद किया और स्वयं सार्थवाह के पुत्र का पीछा कर वहां उसे फांसी लेते देखा। राजा ने तुरन्त उसकी फांसी काटकर उसे हाथी पर चढ़ाकर बड़ी धूमधाम से नगर में प्रवेश कराया।

सभा में आते ही राजा ने उसे कहा कि— हे महाशय ! हमारे सब तरह पूछने पर भी तुमने परदोष प्रगट नहीं किया, यह तेरे समान कुलीन पुरुष को वास्तव में योग्य ही है, किन्तु इस विषय में मैंने अज्ञान रूप असावधानी के कारण तेरा जो अपराध किया है, उस सब को तूं क्षमा कर, क्योंकि सत्पुरुष क्षमावान होते हैं।

इतने में सुभट पुरोहित पुत्र को बांधकर वहां लाये, उसे

ब राजा ने क्रोध से आरक्त नेत्र कर प्राणदण्ड की आज्ञा दी। ब चक्रदेव कहने लगा कि-इस वत्सल हृदय, सरल प्रकृति मेरे मित्र ने और कौनसा विरुद्ध कार्य किया है ?

तब राजा ने नगर देवता का कहा हुआ उसका सब दुष्कर्म ह सुनाया, जिसे सुन सार्थवाह पुत्र विचारने लगा कि- अमृत में विष कैसे पैदा हो अथवा चन्द्र बिम्ब में से अग्नि वर्षा कैसे हो, इसी प्रकार ऐसे मित्र द्वारा ऐसा निकृष्ट कर्म कैसे हुआ होगा।

इस प्रकार विचार करके चक्रदेव ने राजा के चरणों में प्रणाम करके (विनंती करके) अपने मित्र को छुडाया। तब राजा हर्षित होकर बोला कि - उपकारी अथवा निर्मत्सरी मनुष्य पर दयालु रहना, इसमें कौन-सा बडप्पन है ? किन्तु शत्रु और बिना विचारे अपराध करने वाले पर जिसका मन दयालु हो, उसी को सज्जन जानना।

तदनंतर शतपत्र नामक पुष्प के समान निर्मल चरित्र उक्त सार्थवाह पुत्र को सुभटों के साथ उसके घर विदा किया। इसके उपरान्त चक्रदेव ने यज्ञदेव को प्रीतियुक्त वचनों से बुलाया, तथा सत्कार सम्मान देकर उसके घर भेजा।

तब नगर-जनों में चर्चा चली कि, इस सार्थवाह पुत्र को ही धन्य है कि जिसकी अपकार करने वाले पर भी ऐसी बुद्धि प्रवृत्त होती है। अब उक्त चक्रदेव ने वैराग्य मार्ग में लीन होकर किसी दिन श्री अग्निभूति नामक गुरु के पास दुःख रूपी काष्ठ को जलाने के लिए अग्नि के समान दीक्षा ग्रहण की।

वह [illegible] तक अति उग्र साधुत्व तथा निष्कपट श्रामण्य का पालन कर [illegible] देवलोक में नव सागरोपम की आयुष्य वाला देव हुआ। वहां से च्यवन कर वह शत्रुओं से अजेय मंगलावती

विजयान्तर्गत बहुरत्न सम्पन्न रत्नपुर नगर में रत्नसार नामक महा सार्थवाह के घर उसकी श्रीमती नामकी भार्या के गर्भ से चन्दनसार नामक पुत्र हुआ। उसने चन्द्रकान्ता नामक स्त्री से विवाह किया, और दोनों स्त्री पुरुष जिन-धर्म का पालन करने लगे।

यज्ञदेव भी मृत्यु पाकर दूसरी नारकी में उत्पन्न हो, वहां से पुनः इसी नगर में एक शिकारी कुत्ता हुआ। वहां से बहुत से भव-भ्रमण करने के अनन्तर उपरोक्त रत्नसार सार्थवाह की दासी का अधनक नामक पुत्र हुआ। यहां पुनः उन दोनों की प्रीति हो गई।

एक दिन राजा दिग्यात्रा को गया था, उस समय विन्ध्य केतु नामक भील सरदार ने रत्नपुर को भंग कर बहुत से मनुष्यों को कैद कर लिया। इस धर-पकड़ में वे लोग चन्द्रकान्ता को भी हर ले गये। शेष लोग इधर-उधर भाग गये। पश्चात् उक्त भील-सरदार ने यहां से लौटकर प्राचीन कुए के किनारे पड़ाव डाला।

पूर्ण दिवस व्यतीत हो जाने पर रात्रि को प्रयाण के समय अत्यन्त आतुरता के कारण नौकर-चाकरों के अपने-अपने काम में रुक जाने पर, वैसे ही महान कोलाहल से आकाश को गूंजते हुए लश्कर व कैदियों के आगे रवाना होने पर उक्त चंदनसार की पत्नी अपने शील-भंग के भय से पञ्च परमेष्ठी नमस्कार मंत्र का स्मरण करती हुई उस कुए में कूद पड़ी। किन्तु भवितव्यता के बल से वह उथले पानी में गिरने से जीवित रह गई, पश्चात् कुए की पाल (अंदर के किनारे) में रहकर उसने कुछ दिन व्यतीत किये।

इधर धाडेतियों के लौट जाते ही चन्दनसार अपने नगर में आ पहुँचा, वहां अपनी स्त्री हरण की बात ज्ञात कर वह विरह के दुःख से बड़ा दुःखी होने लगा। पश्चात् उसको छुड़ाने के लिए

भाता (नाश्ता) तथा द्रव्य ले चन्दनसार अपनाक को साथ में लेकर रवाना हुआ, ये दोनों रात्रि समय में लिये हुए भार को बारी-बारी से ले जाने लगे. क्रमशः चलते-चलते वे उक्त प्राचीन कुए के पास पहुँचे, उस समय दासी पुत्र के पास द्रव्य की वसनी थी तथा चन्दनसार के पास भाता था।

उस समय पूर्व भव के अभ्यास से दासी पुत्र विचार करने लगा कि यह शून्य जंगल है, सूर्य भी अस्त हो गया है इससे खूब अंधकार हो गया है। इसलिये इस सार्थवाह पुत्र को इस कुए में डालकर मेरे साथ के द्रव्य से मैं आनंद भोगूं। यह सोच वह महा कपटी, कहने लगा कि– हे स्वामी ! मुझे बहुत तृषा लगी है। तब सरल स्वभावी चन्दनसार ज्योंही उक्त कुए में पानी देखने लगा त्यों ही उस महापापी ने उसे कुए में ढकेल दिया, और आप वहां से भाग गया।

अब चन्दनसार सिर पर भाते की गठड़ी के साथ पानी में गिरा ! वह (जीता बचकर) ज्योंही बाजू की पाल में चढ़ा त्योंही उसका हाथ उसमें स्थित चन्द्रकान्ता को जाकर लगा तब चन्द्रकान्ता भयभीत होकर " नमो अरिहंताणं " का उच्चारण करने लगी। इस शब्द से उसे पहिचान कर चन्दन बोला " जैन धर्मियों को अभय है "। यह सुन उसे अपना पति जानकर चन्द्रकान्ता उच्च स्वर से रोने लगी। पश्चात् सुख दुःख की बातों से उन्होंने रात्रि व्यतीत करी।

प्रातःकाल सूर्योदय के अनन्तर उक्त भाता दोनों ने खाया इस प्रकार कितनेक दिन व्यतीत करते भाता संपूर्ण हो गया. अब चन्दन कहने लगा कि, हे प्रिये ! जैसे गंभीर संसार में ऊंचा चढ़ना कठिन है, वैसे ही इस विकट कुए में से भी ऊ

निकलना सचमुच कठिन है। इसलिये हम अनशन करें कि जिससे यह मनुष्य भव निरर्थक होने से बचे। चन्दन के यह कहते ही उसका दक्षिण नेत्र स्फुरण हुआ। साथ ही चन्द्रकान्ता की वाम चक्षु स्फुरित हुई, तब चंदन बोला कि, हे प्रिये! मैं सोचता हूँ कि इस अंग स्फुरण के प्रमाण से अपना यह संकट अब अधिक काल तक नहीं रहेगा।

इतने में वहां नंदिवर्द्धन नामक सार्थवाह जो कि रत्नपुर नगर की ओर जा रहा था, आ पहुँचा। उसने अपने सेवकों को पानी लेने के लिये भेजे। वे ज्योंही कुए में देखने लगे कि उनको चंदन व चन्द्रकान्ता दृष्टि में आये। जिससे उन्होंने सार्थवाह को कहकर मांची द्वारा उनको बाहर निकाले।

पश्चात् सार्थवाह के पूछने पर चन्दन ने सर्व वृत्तांत कह सुनाया. तदनन्तर वे अपने नगर की ओर रवाना हुए, इस प्रकार पांच दिन मार्ग में व्यतीत किये। छठे दिन चलते २ उन्होंने राजमार्ग में सिंह द्वारा फाड़कर मारा हुआ एक मनुष्य देखा, उसके पास द्रव्य की भरी हुई वसनी मिल जाने से उन्होंने जाना कि— हाय-हाय! यह तो बेचारा अधनक ही है। पश्चात् उक्त द्रव्य ले रत्नपुर में आकर अतिशय विशुद्ध परिणामों से उस द्रव्य को उन्होंने सुपात्र में व्यय किया।

तत्पश्चात् विजय वर्द्धनसूरि से निर्दोष दीक्षा ग्रहण कर चंदन शुक्र देवलोक में सोलह सागरोपम की आयुष्य वाला देवता हुआ.

वहां से च्यवन करके इस भरत क्षेत्र के अन्तर्गत रथवीरपुर नामक नगर में नंदीवर्द्धन नामक गृहपति की सुन्दरी नाम की भार्या की कुक्षी से वह पुत्र हुआ। उसका नाम अनंगदेव रखा गया तथा वह अनंग (काम) के समान ही सुन्दर रूपशाली हुआ,

उसने श्री देवसेन आचार्य से गृहि-धर्म अंगीकार किया।

उक्त अधनक भी सिंह द्वारा मारा जाने से वालुकाप्रभा नारकी में जाकर, वहां से सिंह हुआ। वहां से पुनः अशुभ परिणाम से उसी नारकी में गया। पश्चात् बहुत से भव भ्रमण करके वही सोम सार्थवाह की नन्दमती भार्या के गर्भ से धनदेव नामक पुत्र हुआ।

निष्कपटी अनंगदेव और कपटी धनदेव की पुनः वहां परस्पर प्रीति हुई। वे दोनों व्यक्ति द्रव्योपार्जन के हेतु किसी समय रत्नद्वीप में गये। वहां से बहुत सा द्रव्य प्राप्त करने के अनन्तर कितनेक दिनों में अपने नगर की ओर लौटे इतने में धनदेव ने अपने मित्र को ठगने का विचार किया।

जिससे उसने किसी ग्राम के बाजार में जा दो लड्डू बनवाये, पश्चात् एक में विष डालकर सोचा कि—यह लड्डू मित्र को दूंगा। किन्तु मार्ग में चलते चित्त आकुल होने से उसकी धारणा दास्त बदल गई। जिससे उसने मित्र को अच्छा लड्डू दिया और विषयुक्त स्वयं ने खाया। जिससे अति तीव्र विष की दुःसह पीड़ा से पीड़ित होकर धनदेव धर्म के साथ ही जीवन से भी रहित होकर मर गया।

इससे अनंगदेव उसके लिये बहुत शोक कर, उसका मृतकार्य करके क्रमशः अपने नगर में आया और उसके स्वजन सम्बन्धियों से सब वृत्तान्त कहा।

पश्चात् उनको बहुत सा द्रव्य दे, अपने माता पिता आदि की अनुमति लेकर अनंगदेव ने पूर्व परिचित श्री देवसेन गुरु से उभय लोक हितकारी दीक्षा ग्रहण की।

यह दुष्कर तपश्चरण करता हुआ केवल परोपकार करने में मन रखकर मृत्युवश हो प्राणत देवलोक में उन्नीस सागरोपम की आयुष्य से देवता हुआ। उतना समय पूरा कर वहां च्यवन होकर वह जंबूद्वीपान्तर्गत ऐरवत क्षेत्र के गजपुर नगर में हरिनंदि नामक परम श्रावक श्रेष्ठि के घर उसकी लक्ष्मीवती नामक स्त्री की कुक्षि से वीरदेव नामक पुत्र हुआ, उसने श्रीमानभंग नामक श्रेष्ठ गुरु से श्रावक व्रत लिया।

धनदेव भी उस समय उत्कृष्ट विष के वेग से मरकर नौ सागरोपम की आयुष्य से पंकप्रभा नामक नारकी में उत्पन्न हुआ। वहां से निकलकर सर्प हुआ। वह वन में लगी हुई भयंकर अग्नि में सर्वांग से जलकर उसी नारकी में लगभग दस सागरोपम की आयुष्य से नारकपन में उत्पन्न हुआ।

वहां से तिर्यंच भव में भ्रमण करके वह उक्त गजपुर में इन्द्रनाग श्रेष्ठि की नंदिमती भार्या के उदर से द्रोणक नामक पुत्र हुआ। वहां भी वे पूर्व भव की प्रीति के योग से मिलकर एक बाजार में व्यापार करने लगे। उसमें उनने बहुत द्रव्य बढ़ाया। तब पापी द्रोणक विचारने लगा कि—मेरे इस भागीदार को किस प्रकार मार डालना चाहिये?

हां एक उपाय है, वह यह है कि आकाश को स्पर्श करे ऐसा ऊंचा महल बंधवाना। उसके शिखर पर लोहे के खीलों से जड़ा हुआ झरोखा बनवाना। पश्चात् सह कुटुम्ब वीरदेव को भोजन करने के लिये बुलाना। पश्चात् उसको उक्त झरोखा बताना, ताकि वह उसे रमणीय जान स्वयं उस पर चढ़कर बैठ जायगा उसी समय वह खड़खड़ करता हुआ वहां से गिरेगा व तुरन्त मर जावेगा। ताकि निर्विवाद यह संपूर्ण द्रव्य मेरा हो

उसने श्री देवसेन आचार्य से गृहि-धर्म अंगीकार किया।

उक्त अधनक भी सिंह द्वारा मारा जाने से वालुकाप्रभा नारकी में जाकर, वहां से सिंह हुआ। वहां से पुनः अशुभ परिणाम से उसी नारकी में गया। पश्चात् बहुत से भव भ्रमण करके यहीं सोम सार्थवाह की नन्दमती भार्या के गर्भ से धनदेव नामक पुत्र हुआ।

निष्कपटी अनंगदेव और कपटी धनदेव की पुनः वहां परस्पर प्रीति हुई। वे दोनों व्यक्ति द्रव्योपार्जन के हेतु किसी समय रत्नद्वीप में गये। वहां से बहुत सा द्रव्य प्राप्त करने के अनन्तर कितनेक दिनों में अपने नगर की ओर लौटे इतने में धनदेव ने अपने मित्र को ठगने का विचार किया।

वह दुष्कर तपश्चरण करता हुआ केवल परोपकार करने ही में मन रखकर मृत्युवश हो प्राणत देवलोक में उन्नीस सागरोपम की आयुष्य से देवता हुआ। उतना समय पूरा कर वहां च्यवन होकर वह जंबूद्वीपान्तर्गत ऐरवत क्षेत्र के गजपुर नगर में हरिनंदि नामक परम श्रावक श्रेष्ठि के घर उसकी लक्ष्मीवती नामक स्त्री की कुक्षि से वीरदेव नामक पुत्र हुआ उसने श्रीमानभंग नामक श्रेष्ठ गुरु से श्रावक व्रत लिया।

धनदेव भी उस समय उत्कृष्ट विष के वेग से मरकर नौ सागरोपम की आयुष्य से पंकप्रभा नामक नारकी में उत्पन्न हुआ वहां से निकलकर सर्प हुआ। वह वन में लगी हुई भयंकर अग्नि में सर्वांग से जलकर उसी नारकी में लगभग दस सागरोपम की आयुष्य से नारकपन में उत्पन्न हुआ।

वहां से तिर्यंच भव में भ्रमण करके वह उक्त गजपुर में इन्द्रनाग श्रेष्ठि की नंदिमती भार्या के उदर से द्रोणक नामक पुत्र हुआ। वहां भी वे पूर्व भव की प्रीति के योग से मिलकर एक बाजार में व्यापार करने लगे। उसमें उनने बहुत द्रव्य बढ़ाया। तब पापी द्रोणक विचारने लगा कि—मेरे इस भागीदार को किस प्रकार मार डालना चाहिये ?

हां एक उपाय है, वह यह है कि आकाश को स्पर्श करे ऐसा ऊंचा महल बंधवाना। उसके शिखर पर लोहे के खीलों से जड़ा हुआ झरोखा बनवाना। पश्चात् सह कुटुम्ब वीरदेव को भोजन करने के लिये बुलाना। पश्चात् उसको उक्त झरोखा बताना, ताकि वह उसे रमणीय जान स्वयं उस पर चढ़कर बैठ जायगा उसी समय वह खड़खड़ करता हुआ वहां से गिरेगा व तुरन्त मर जावेगा। ताकि निर्विवाद यह संपूर्ण द्रव्य मेरा हो

ायगा व लोगों में भी किसी प्रकार बाधा उपस्थित न होगी
ह सोचकर उसने वैसा ही किया। पश्चात् भोजन करके दोनों
ने महल के शिखर पर चढ़े। द्रोणक मूल ही से बुद्धि रहि
। साथ ही इस वक्त उसका मन अनेक संकल्प विकल्प
रा हुआ था। जिससे वह मित्र को झरोखे की ओर आने
ये कहता हुआ स्वयं अकेला ही वहां चढ़ गया साथ ही
रोखा टूट गया ताकि वह नीचे गिरकर मर गया। तब वीरदे
से गिरता देख, मुंह से हाहाकार करता हुआ झटपट वह
नीचे उतर कर उसे देखने लगा तो वह उसे मरा हुआ दृ
आया। तो उसने हे मित्र! हे मित्रवत्सल, हे छल दूषण
हित! हे नीति-मार्ग के बताने वाले! इत्यादि नाना प्रका
विलाप करके उसका मृत कार्य किया।

(पश्चात् वह सोचने लगा कि) यह जीवन पानी के बिन्दु
समान चंचल है। यौवन विद्युत् के समान चंचल है
तएव कौन विवेकी पुरुष गृहवास में फंसा रहे? यह सोचकर
म्यक्त्व दाता गुरु से दीक्षा लेकर तीसरे ग्रैवेयक विमान में
ह देदीप्यमान देवता हुआ।

तदनंतर इस जम्बूद्वीप में महाविदेह क्षेत्र में इन्द्र का शरीर
सें तत्काल वज्र को धारण करता है, तथा सहस्र नेत्र युक्त है
से ही सजकर तैयार किये हुए वज्रमणि (हीरों) को धारण
रने वाला तथा सहस्रों आम्र वृक्षों से सुशोभित चंपावास
मक श्रेष्ठ नगर है। वहां कल्याण साधन में सदैव मन रखने
ला माणिभद्र नामक श्रेष्ठि था। उसकी जिनधर्म पर पूर्ण
तिवान् हरिमती नामक प्रिया थी। उनके घर उक्त वीरदेव का
व तीसरे ग्रैवेयक विमान से च्यवकर पूर्णभद्र नामक उनका
त्र हुआ। उसने प्रथम समय ही में प्रथम ही शब्द उच्चारण

करते! अमर! यह शब्द उच्चारण किया जिससे उसका
अमर रक्खा गया।

इधर द्रोणक मरकर धूमप्रभा में बारह सागरोपम के अ
से नारक हुआ। पश्चात् स्वयंभूरमण समुद्र में मत्स्य होकर
उसी नारकी में गया। तदनन्तर कितनेक भव भ्रमण करके
नगर में नन्दावर्त्त नामक श्रेष्ठी की श्रीनन्दा नान्नी स्त्री के
से नन्दयंती नाम की पुत्री हुई।

भवितव्यता वश उक्त नन्दयंती का पूर्णभद्र से पाणि
किया। वह पूर्व कर्म वश पति को वंचन करने में तत्पर
लगी। उसके सेवकों ने यह बात जानकर पूर्णभद्र को कहा
हे स्वामिन्! आपकी स्त्री असत्य उत्तर और कूटकपट की
के समान है, किन्तु उसने यह बात न मानी।

किसी समय नन्दयती ने दो बहुमूल्य कुंडल छिप
आकुल हो पति से कहने लगी कि- कुंडल कहीं गिर
पूर्णभद्र ने स्नेह वश उसे पुनः नये कुंडल बनवा दिये,
तरह वह हरेक आभूषण छिपाती गई व पूर्णभद्र नये २
कर देता रहा।

एक दिन उसने स्नान करते समय अपने हाथ की
जड़ित अंगूठी उसे दी, जब संध्या को वापस मांगी तो
बोली कि- वह तो मेरे हाथ में से कहीं गिर पड़ी। तब प
अति आतुर हो हर जगह उसकी शोध करने लगा। इत
अपनी स्त्री के संदूक में जितनी वस्तुएँ गुम हो गई, कह
आई थीं वे सब यथावत् पड़ीं देखीं। तब उक्त सन्दूक हा
ले वह मन में तर्क करके विचार करने लगा कि- ये कुंडल
आभूषण क्या उसने गये हुए पुनः शोधकर इसमें रखे हों
मूल ही से छिपा रखे होंगे?

इतने ही में नंदयती वहां आ पहुँची, जिससे पूर्णभद्र व
तुरन्त बाहर निकल गया। तब वह विचारने लगी कि-इसने
निश्चयतः जान ली है। इसलिये यह स्वजन सम्बन्धियों में
प्रकट न करे, उसके पहिले ही शीघ्र इसको अमुक वस्तुएँ
कर कामण करके मार डालूं। यह विचार कर उसने अपने हा
अनेक प्राण नाशक वस्तुएं एकत्रित कर अंधेरे में एक स्थान
रखने गई, इतने ही में काले नाग ने उसको डसी।

उसी क्षण वह धम से भूमि पर गिरी, जिसे सुन सेवक
वहां आ हाहाकार करने लगे, जिससे पूर्णभद्र भी वहां
पहुँचा और उसने होशियार गारुड़ियों को बुलवाया। तो
सबके देखते ही देखते वह पापिनी क्षण भर में मृत्यु वश
छठी नारकी में गई, और भविष्य में अनंतों भव भटकेगी।

उसे मरी देख कर पूर्णभद्र को बहुत शोक हुआ जिस
उसका मृत कार्य कर, मन में वैराग्य ला उसने दीक्षा ग्रहण क
इन्द्रिय जय करना शुरू किया। वह शुक्ल ध्यानरूप अग्नि
सकल कर्मरूप इंधन को जला, पाप रहित होकर लोकोत्त
मुक्तिपुरी को प्राप्त हुआ।

विशेष निर्वेद पाने के लिये यहां आगे पीछे के भवों क
वर्णन किया गया है, किन्तु यहां अशठता रूप गुण में मुख्य कार्य
तो चक्रदेव ही का है।

इस प्रकार प्रत्येक भव में निष्कपट भाव रखने वाले चक्रदेव
को कैसे मनोहर फल प्राप्त हुए, सो बराबर सुनकर हे भव्य जनों!
तुम संतोष धारण करके किसी भी प्रकार परवंचन में तत्पर
न होओ।

※ इति चक्रदेव चरित्र समाप्त ※

अशठता रूप सातवां गुण कहा. अब सुदाक्षिण्यता रूप आठवें गुण का वर्णन करते हैं—

उवयरइ सुदक्खिन्नो परेसिमुज्झियसकज्जवावारो ।
तो होइ गज्झवक्को-णुवत्तणीओ य सव्वस्स ॥ १५ ॥

मूल का अर्थ – सुदाक्षिण्य गुण वाला अपना कामकाज छोड़ परोपकार करता रहता है, जिससे उसकी बात सभी मानते हैं तथा सब उसके अनुगामी हो जाते हैं ।

टीका का अर्थ –सुदाक्षिण्य याने उत्तम दाक्षिण्य. गुण युक्त, अभ्यर्थना करते उपकार करता है याने उपकारी होकर चलता है ।

सुदाक्षिण्य यह कहने का क्या अर्थ ? उसका अर्थ यह है कि– जो परलोक में उपकार करने वाला प्रयोजन हो तो उसी में लालच रखना, परन्तु पाप के हेतु में लालच न रखना, इसी से 'सु' शब्द द्वारा दाक्षिण्य को विभूषित किया है ।

(उपकार किसका करे सो कहते हैं) पर याने दूसरों का किस प्रकार सो कहते हैं: स्वकार्य व्यापार छोड़कर याने कि अपने प्रयोजन की प्रवृत्ति छोड़कर भी (परोपकार करे) उस कारण से वह ग्राह्यवाक्य याने जिसकी आज्ञा का कोई उल्लंघन न करे ऐसा होता है, तथा अनुवर्त्तनीय रहता है याने सर्व धार्मिक जनों को उसकी चेष्टा अच्छी लगती है, कारण कि– धार्मिक लोग उसके दाक्षिण्य गुण से आकर्षित होकर इच्छा न होते हुए भी धर्म का पालन करते हैं। क्षुल्लक कुमार के समान ।

—ॐ क्षुलककुमार की कथा ॐ—

जैसे शिवपुर मुक्त (मोक्ष पाये हुए पुरुषों) का आधार है वैसे ही मुक्त (मोती) का आधार रूप साकेत नामक नगर था. वहां शत्रु रूपी हाथियों में पुंडरिक समान पुंडरीक नामक रा[illegible] था उसका कंडरिक नामक छोटा भाई युवराज था और उसक[illegible] सुशील व लज्जालु यशोभद्रा नामक भार्या थी। उसे किसी समय में [illegible] बैठे हुए पुंडरिक राजा ने देखी, जिससे वह [illegible] के समान कामबाणों से आहत होकर चित्त में सोचने लगा कि इस मृगलोचनी को ग्रहण करना चाहिये। इसलिए इसे (किसी प्रकार) लुभाना चाहिये, कारण कि - योग्य पात्र में बंधा हुआ [illegible] कर सकता है। यह विचार कर उसने [illegible] भेजे। यशोभद्रा ने भी [illegible] होने से [illegible] कर दिया।

को भी मरवा डाला वह अब मेरे शील को निश्चय से बिगाड़ेगा। इसलिये मैं अब (किसी भी उपाय से) शील रक्षण करूं। यह विचार कर जिन वचन से रंगित यशोभद्रा आभरण साथ में लेकर साकेतपुर से झटपट एकाएक रवाना हुई।

वहां कोई वृद्ध वणिक बहुतसा माल लेकर श्रावस्ती नगरी की ओर जा रहा था। उससे मिली, उसने कहा कि मैं तेरी तेरे बाप के समान सम्हाल रक्खूंगा। तदनुसार वह उसके साथ २ कुशल क्षेम पूर्वक श्रावस्ती को आ पहुँची। वहां अंतरंग वैरियों से अपराजित अजितसेन सूरि की मद रहित कीर्तिमती नामक महत्तरिका आर्या थी। उसको नमन करके भद्रआशया यशोभद्रा धर्मकथा सुनने लगी। पश्चात् अपना वृत्तान्त निवेदन करके उसने दीक्षा ग्रहण की।

वह गर्भवती थी यह उसे ज्ञात होने भी कदाचित् दीक्षा न दें इस विचार से उसने इस सम्बन्ध में महत्तरा को कुछ भी न कहा। काल क्रम से गर्भ के वृद्धि पाने पर महत्तरा उसे एकान्त में पूछने लगी। तब उसने उसे वास्तविक कारण बता दिया।

पश्चात् जब तक उसको प्रसूति हुई तब तक उसे छिपा कर रखा। बाद पुत्र जन्म होते, उसका नाम क्षुल्लककुमार रखा गया और किसी श्रावक के घर उसका लालन पालन हुआ।

तदनन्तर उसे योग्य समय पर शास्त्र विधि के अनुसार अजितसेन गुरु ने दीक्षित किया और यति जन को उचित सम्पूर्ण आचार सिखाया। क्रमशः क्षुल्लक मुनि अति रूपवान यौवन को प्राप्त कर विषयों से लुभाते हुए इन्द्रिय दमन में असमर्थ होगए। जिससे वे स्वाध्याय में मन्द होकर संयम का पालन करने में

भोग की इच्छा स्फुरित होने से भग्न परिणाम होते भी वह बात स्वीकार की।

बारह वर्ष सम्पूर्ण हो जाने के अनन्तर पुनः उसने माता को पूछा, तब वह बोली कि—हे वत्स ! तू अपनी माता समान मेरी गुरुआनी को पूछ। तदनुसार उसने गुरुआनी को पूछा तो उस महत्तरा ने भी और बारह वर्ष रहने की प्रार्थना करके उसे रोक रखा। इसी प्रकार तीसरी वार आचार्य ने उसे बारह वर्ष रोक रखा।

चौथी बार उपाध्याय ने बारह वर्ष रोका। इस प्रकार अड़तालीस वर्ष बीत जाने पर भी उसका मन चारित्र में लेश मात्र भी धैर्यवान न हुआ। तब सब सोचने लगे कि- मोह के विष को धिक्कार है कि जिसके वश हो जीव किसी भी प्रकार अपने को चैतन्य नहीं कर सकते। यह विचार कर आचार्यादि ने उसकी उपेक्षा की।

तब उसके पिता के नाम की अंगूठी और कम्बल रत्न जो पहिले से रख छोड़े थे वे माता ने उसे देकर कहा कि- हे वत्स ! यहां से और कहीं भी न जाकर सीधा साकेतपुर में जाना, वहां पुंडरिक नामक राजा है, वह तेरा बड़ा बाप (ताऊ) होता है। उसे तू यह तेरे बाप के नाम की मुद्रा तथा कंबलरत्न बताना ताकि वह तुझे बराबर पहचान कर राज्य का भाग देगा। यह बात स्वीकार कर तथा गुरु को नमन करके वह वहां से निकला और लक्ष्मी के कुलगृह समान साकेतपुर में आ पहुँचा।

उस समय राज महल में नाटक हो रहा था। उसे देखने के लिये नगर जनों को दौड़ादौड़ करते देख क्षुल्लककुमार भी

वहां गया। राजा से मिलना दूसरे दिन पर रखकर वह वहीं बैठकर नवीन नवीन रचनायुक्त नृत्य देखने लगा।

वहां सम्पूर्ण रात्रि भर नृत्य करके थकी हुई नटी प्रातःका में जरा झोंके खाने लगी। तब उसकी माता विचारने ल कि- अभी तक अनेक हाव भाव द्वारा जमाये हुए रंग कदाचित् भंग हो जावेगा, जिससे वह गीत गाने के मिष उसे निम्नानुसार प्रतिबोध करने लगी।

अच्छा गाया, अच्छा बजाया, अच्छा नृत्य किया, इसलि हे श्याम सुन्दरी! सारी रात बिताकर अब स्वप्न के अन्त गफलत मत कर। यह सुनकर क्षुल्लककुमार ने उसे रत्न - कम्ब दिया। राजपुत्र यशोभद्र ने अपने कुण्डल उतार कर दिये। सा वाह की स्त्री श्रीकान्ता ने अपना देदीप्यमान हार उतार कर दिया। जयसंधि नामक सचिव ने दमकते हुए रत्न वाला अप कटक दे दिया। कर्णपाल नामक महावत ने अंकुश रत्न दिया इत्यादि सर्व लक्ष मूल्य की वस्तुएँ उन्होंने भेंट में दी। इतने में सूर्योदय हुआ।

अब भाव जानने के लिये राजा ने पहिले क्षुल्लक कुमार कहा कि तूने इतना भारी दान किसलिये दिया? तब उस आरंभ से अपना सम्पूर्ण वृत्तांत कह सुनाया और कहा कि याव राज्य लेने के लिये तैयार होकर तेरे पास आ खड़ा हूँ, परन्तु य गीत सुनकर मैं प्रतिबुद्ध हुआ हूँ, और विषय की इच्छा से अल हो, प्रव्रज्या का पालन करने के लिये दृढ़ निश्चयवान् हुआ हूँ इसीसे इसे उपकारी जानकर मैंने रत्न-कम्बल दिया है। त उसे अपने भाई का पुत्र जानकर राजा संतुष्ट हो कहने लगा कि-

हे अति पवित्र वत्स! यह उत्तम विषयसुख युक्त राज्

महण कर। शरीर को क्लेश देने वाले व्रतों का तुझे क्या काम है?

क्षुल्लक बोला कि– हे नरवर! चिरकाल प्राप्त अपने संयम को अन्त में राज्य के लिये कौन निष्फल करे।

पश्चात् अपने पुत्र आदि को राजा ने कहा कि तुमने जो दान दिया उसका कारण कहो। तब राजपुत्र बोला– हे पिताजी! मैं आपको मारकर यह राज्य लेना चाहता था, किन्तु यह गीत सुन कर राज्य व विषयों से विरक्त हुआ हूँ।

श्रीकान्ता बोली कि– हे नरवर! मेरे पति को विदेश गये बारह वर्ष व्यतीत हो गये हैं, जिससे मैं विचारने लगी कि अब दूसरा पति करूं, क्योंकि प्रवासी पति की आशा से व्यर्थ क्लेश पाती हूँ, परन्तु यह गीत सुनने से अब स्थिर चित्त हो गई हूँ।

स्पष्ट सत्य भाषी जयसंधि बोला कि, हे देव! मैं स्नेह प्रीति बताने वाले अन्य राजाओं के साथ मिल जाऊं कि क्या करूं? इस प्रकार डगमग हो रहा था, परन्तु अभी यह गीत श्रवण कर तुम पर दृढ़ भक्तिवान् हो गया हूँ।

महावत बोला कि मुझे भी सरहद पर के दुष्ट राजा कहते थे कि पट्टहस्ती को लाकर हमें सौंप अथवा उसे मार डाल। जिससे मैं बहुत काल से अस्थिर चित्त हो रहा था, परन्तु अभी उक्त गीत सुनकर स्वामी के साथ दगा करने से विमुख हुआ हूँ।

इस प्रकार उनके अभिप्राय जानकर प्रसन्न हो राजा ने उन्हें आज्ञा दी कि–अब जैसा तुम्हें उचित जान पड़े वैसा करो।

इस प्रकार का अकार्य करके अपन कितनेक जीने वाले हैं? यह कह कर वे वैराग्य प्राप्त कर क्षुल्लक कुमार से प्रव्रजित हुए।

दनन्तर उनको साथ में ले वह महात्मा अपने गुरु के पास
ाया। गुरुने उस दाक्षिण्य सागर कुमार की प्रशंसा की।
श्चात् उसने संपूर्ण आगम सीख, निर्मल व्रत पालन कर मोक्ष
ाप्त किया।

इस प्रकार दाक्षिण्यवान् क्षुल्लककुमार को प्राप्त हुआ फल
ष्टतः सुनकर सदाचार की वृद्धि के हेतु हे भव्यो! तुम प्रयत्न
रो।

इति क्षुल्लककुमार कथा समाप्त

सुदाक्षिण्य रूप आठवां गुण कहा। अब लज्जालुत्व रूप
ांवें गुण का वर्णन करते हैं:—

लज्जालुओ अकज्जं वज्जइ दूरेण जेण तणुयंपि।
आयरइ सयायारं न मुयइ अंगीकयं कहवि॥ १६॥

मूल का अर्थ—लज्जालु पुरुष छोटे से छोटे अकार्य को
। दूर ही से परिवर्जित करते हैं, इससे वे सदाचार का
ाचरण करते हैं और स्वीकार की हुई बात को किसी भी भांति
हीं त्यागते हैं।

टीका का अर्थ—लज्जालु याने लज्जावान्—अकार्य याने
त्सित कार्य को (यहां नञ् कुत्सनार्थ है) वर्जता है याने
रिहरता है—दूर से याने दूर रहकर—जिस कारण से-उस
रण से वह धर्म का अधिकारी होता है, ऐसा संबन्ध जोड़ना,
ु याने थोड़े अकार्य को भी त्यागता है तो अधिक की
त ही क्या करना।

इस प्रकार जैसे जैसे वह विद्याधर उसकी स्तुति करने लगा. वैसे २ कुमार अति उद्विग्न होकर लज्जा से कंधा नमाता हुआ कुछ भी बोल न सका। तब उसको पुनः घाव में नमक डालने की भांति व विद्याधर खारी वाणी (तीक्ष्ण वचन) ये कहने लगा कि जो तुझे मेरी स्त्री की इच्छा (आवश्यकता) है तो मैं हार चुका।

ता बोला कि- वीरपुर नगर में जिनदास नामक उत्तम
। वह उसके गुरु-जन से शिक्षा पाया हुआ है और अति
तथा निर्मल दृष्टि वाला है। उसका अति वल्लभ धन
एक मिथ्यादृष्टि मित्र है। उसने एक समय विषय सुख
र तापस की दीक्षा ली।

तब जिनदास विचारने लगा कि- ये क्षुद्र ज्ञानी भी जो इस
पाप से डरकर विष के समान विषयों का त्याग करते हैं तो
स्वरूप को समझने वाले और जिन-प्रवचन सुनने से
योग्य वस्तु को जानने वाले निर्मल विवेकवान हमारे सदृश
वषयों को क्यों न त्यागें?

यह सोचकर विनय पूर्वक विनयंधर गुरु से व्रत ले, अनशन
मृत्यु के अनन्तर वह सौधर्म-देवलोक में देवता हुआ।
अवधिज्ञान से अपने मित्र को व्यंतर हुआ देखा, जिससे
ो प्रतिबोध देने के लिये अपनी समृद्धि उसे बताई।

तब वह व्यन्तर सोचने लगा कि अहो! मनुष्य जन्म पाकर
समय मैंने जो जिन-धर्म आराधन किया होता तो मैं वैसा
ा होता।

अरे जीव! तूं ने कल्पवृक्ष के समान गुणवान गुरु की सेवा
होती तो भयंकर दारिद्र के समान यह नीच देवत्व नहीं
ा।

अरे जीव! जो तूने जिन प्रवचन रूप अमृत का पान किया
ा तो महान अनर्थरूप विषवाली यह परवशता नहीं पाता।

इत्यादि नाना प्रकार से शोक करके अपने मित्र देवता के
वन से उस भाग्यशाली व्यंतर ने मोक्ष रूप तरु के बीज समान
म्यक्त्व को भली भांति प्राप्त किया।

के जीवों को हितकारी हो, मरकर जहां जिनदास देवता हुआ था वहीं देवता हुआ। वहां से वे दोनों जने च्यवन होने पर महाविदेह क्षेत्र में तीर्थंकर के समीप निर्मल चारित्र ग्रहण कर मुक्ति पावेंगे।

अकार्य को त्यागने वाले और सुकार्य को करने वाले, लज्जालु राजकुमार को प्राप्त उत्तम फल सुनकर हे भव्य जनों! तुम भी एकचित्त से उसे आश्रय करो।

❀ विजयकुमार की कथा समाप्त ❀

इस प्रकार लज्जालुत्व रूप नौवें गुण का वर्णन किया। अब दयालुत्व रूप दसवें गुण को प्रकट करने के लिये कहते हैं।

मलं धम्मस्स दया तयणुगयं सव्वमेवणुट्ठाणं।
सिद्धं जिणिंदसमए भन्निज्जइ तेणिह दयालू ॥१७॥

सत्व को नष्ट न करना। उन पर हुकूमत नहीं चलाना। उनको आधीन नहीं करना। उनको मार नहीं डालना तथा उनको हैरान नहीं करना," ऐसा पवित्र और नित्य धर्म दुःखी लोक को जान दुःख ज्ञाता भगवान ने बताया है इत्यादि।

इसी से कहा है कि—

अहिंसैव मता मुख्या, स्व मोक्षप्रसाधनी।
अस्याः संरक्षणार्थं च, न्याय्यं सत्यादिपालनं॥

मुख्यतः अहिंसा ही स्वर्ग व मोक्ष की दाता मानी हुई है और इसकी रक्षा ही के हेतु सत्यादिक का पालन न्याययुक्त माना जाता है। इसीसे उससे मिला हुआ अर्थात जीव दया के साथ में रहा हुआ सब याने कि- विहार, आहार, तप तथा वैयावृत्य आदि सदनुष्ठान जिनेन्द्र समय में याने सर्वज्ञ प्रणीत सिद्धान्त में सिद्ध याने प्रसिद्ध है।

तथा श्री शय्यंभवसूरि ने भी कहा है कि:—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधइ॥ त्ति

यत्न से चलना, यत्न से खड़ा रहना, यत्न से बैठना व यत्न से सोना वैसे ही यत्न से खाना और यत्न से बोलना ताकि पाप कर्म का संचय न हो।

औरों ने भी कहा है कि

न सा दीक्षा न सा भिक्षा न तद्दानं न तत्तपः।
न तज् ज्ञानं न तद् ध्यानं, दया यत्र न विद्यते॥

[र]चन्द्र राजा ने जिसमें उत्तम मन रखा जा सके ऐसा श्रमणत्व [स्वी]कृत किया ।

अब सुरेन्द्रदत्त भी सूर्य जैसे महीधर (पर्वत) में [अप]नी किरणें लगाता है वैसे महीधरों (राजाओं) से कर [वसू]ल करता, तथा सूर्य जैसे कमलों को प्रकट करता है वैसे कमला (लक्ष्मी) को प्रकट करता तथा रिपु-रूप अंधकार [का] नाश करता हुआ पृथ्वी रूप लोक को अति सुखी करने [लग]ा।

अब एक दिन राजा की सारसिका नामक दासी ने पलित [देख]कर उसे कहा कि– धर्म का दूत आया है। तब राजा सर्व [वस्तु]ओं के अस्थिरत्व साथ ही भव की तुच्छता तथा यौवन की [चंच]लता का चिंतवन करने लगा। वह विचारने लगा कि दिवस [और] रात्रि रूप घटमाला से लोक का आयुष्य रूप जल लेकर [चन्द्र] और सूर्य रूपी बैल काल रूप रहट को घुमाया करते हैं।

जीवन-रूप जल के पूर्ण होते ही शरीर रूपी पाक सूख जायगा। [जिस]में कोई भी उपाय न चलने पर भी लोग पाप करते रहते हैं। [इस]लिये इस तरंग के समान क्षणभंगुर, अतितुच्छ और नरकपुर [को] जाने को सीधो नाक समान राज्य - लक्ष्मी से मुझे क्या [प्रयो]जन है।

इसलिये गुण रत्न के कुलघर समान गुणधरकुमार को अपने [राज्]य पर स्थापन करके पूर्व-पुरुषों द्वारा आचरित श्रमणत्व अंगी-[का]र करूं, ऐसा उसने विचार किया। जिससे राजा ने रानी को [अप]ना अभिप्राय कहा, तो वह बोली कि– हे नाथ ! आपकी जो [रुचि] हो सो करिये. मैं उसमें विघ्न नहीं करती। किन्तु मैं भी [आप]के पुत्र के साथ ही दीक्षा ग्रहण करूंगी, कारण कि– चन्द्र के [बि]ना उसकी चन्द्रिका किस प्रकार रह सकती है ?

के प्रतिकूल यह चिंता करने का मुझे क्या प्रयोजन है ? यह सोच कर वहां से वापस लौटकर उदास मन से राजा अपने शय्या-गृह में आया।

वहां शय्या में जाकर सोचने लगा कि- अहो! स्त्री बिना नाम की व्याधि है। बिना भूमि की विषवल्ली है। बिना भोजन की विशूचिका है। बिना गुफा की व्याघ्री है। बिना अग्नि की कुंडल है। बिना वेदना की मूर्छा है। बिना लोहे की बेड़ी है और बिना कारण की मौत है। वह यह सोच ही रहा था कि इतने में धीरे-धीरे रानी वहां आ पहुँची, किन्तु राजा ने गांभीर्य गुण धारण करके उससे कुछ भी नहीं कहा।

इतने में सेवकों ने प्रभात के वाद्य बजाये और काल निवेदक पुरुष गंभीर शब्द से इस प्रकार बोला- इस भारी अंधकार रूप बाल के समूह को बिखेर कर परलोक में गये हुए सूर्य को भी जलांजलि देने के लिये रात्रि जाती है।

तब प्रातः कृत्य करके राजा सभा में आया। वहां मंत्री, सामंत, श्रेष्ठी तथा सार्थवाह आदि ने उसे प्रणाम किया। पश्चात् राजा ने विमलमति आदि मंत्रियों को अपना अभिप्राय कहा। तब उन्होंने हाथ जोड़कर विनन्ती की कि- हे देव! जब तक गुणधरकुमार कवचधारी नहीं हो तब तक इस प्रजा का आप ही ने पालन करना चाहिये।

तब राजा बोला कि- हे मंत्रिवरों! हमारे कुल में पलित होते हुए कोई गृहवास में रहता हुआ जानते हो ? तब वे बोले कि- हे देव: ऐसा तो किसी ने नहीं किया। इस प्रकार मंत्रियों के साथ विविध बातचीत कर वह दिन पूरा करके राजा रात्रि को सुख पूर्वक सोता हुआ पिछली रात्रि में निम्नांकित स्वप्न देखने लगा।

मानो मैं [illegible] सिंहासन पर बैठा हूँ। [illegible] माता ने नीचे गिरा दिया। [illegible] गिरते गिरते [illegible] भूमि पर आ पहुँचा [illegible] उठकर जैसे तैसे उस [illegible] महल के [illegible] पर चढ़ा।

अब नींद खुल जाने पर राजा सोचने लगा कि—कोई भयंकर फल होने वाला है। तो भी यह स्वप्न परिणाम में उत्तम है; तथापि क्या होगा इसकी खबर नहीं पड़ती इसी बीच प्रभात काल के निवेदक ने पाठ किया कि, सद्वृत्त (गोल) गेंद के समान जो सद्वृत्त (श्रेष्ठ आचरण वाला) हो, वह दैव योग से गिर जावे तो भी पुनः ऊंचा होता है। उसकी अवनति (गिरदशा) चिरकाल तक नहीं रहती।

अब प्रातः कृत्य करके राजा राजसभा में बैठा, इतने में बहुत से नौकर चाकरों के साथ यशोधरा वहां आई। राजा उठकर सामने गया और उसे उच्च आसन पर बिठाई। वह पूछने लगी कि–हे वत्स! कुशल है? राजा बोला कि– माता! आप के प्रसाद से कुशल है।

राजा विचार करने लगा कि– मैं व्रत ग्रहण करूंगा यह बात माता किस प्रकार मानेगी? कारण कि उसका मुझ पर बड़ा अनुराग है। हां, समझा, एक उपाय है। मुझे जो स्वप्न आया है वह कह कर पश्चात् यह कहूँ कि उसके प्रतिघात का हेतु मुनिवेश है, इसे वह मान लेगी और मैं दीक्षित हो सकूंगा।

यह सोचकर उसने माता को कहा कि– हे माता! मैंने ऐसा स्वप्न देखा है कि, मानो आज गुणधर कुमार को राज्य देकर मैं प्रव्रजित हो गया। पश्चात् मानो धवलगृह से गिर गया इत्यादि

शान्ति कर्ता है। और दूसरे का अल्पातिअल्प भी बुरा नहीं विचारना यही सर्वार्थ साधन में समर्थ है।

यशोधरा बोली: —हे पुत्र! पुण्य व पाप परिणाम वश है, अथवा कि देह की आरोग्यता के लिये पाप भी किया जाय तो उसमें क्या बाधा है? (कहा है कि—)

बुद्धिमान पुरुष को कारण वश पाप भी करना पड़ता है। कारण कि ऐसा भी प्रसंग आता है कि जिसमें विष का भी औषधि के समान उपयोग किया जाता है।

राजा बोला:—यद्यपि जीवों को परिणाम वश पुण्य व पाप होता है, तथापि सत्पुरुष परिणाम की शुद्धि रखने के हेतु यतना करते हैं। कारण कि जो हिंसा के स्थानों में प्रवृत्त होता है उसका परिणाम दुष्ट ही होता है। क्योंकि विशुद्ध योगी का वह लिंग ही नहीं।

पाप को पुण्य मान कर सेवे तो उससे कोई पुण्य का फल नहीं पा सकता, क्योंकि हलाहल विष खाता हुआ अमृत की बुद्धि रखे तो उससे वह कुछ जी नहीं सकता। तीनों लोकों में हिंसा से बढ़कर कोई पाप नहीं, कारण कि सकल जीव सुख चाहते हैं व दुःख से डरते हैं। तथा हे माता! शरीर की आरोग्यता के लिये भी जीवदया ही करना चाहिये, क्योंकि आरोग्यता आदि सब कुछ जीवदया ही का फल है। कहा है कि-उत्तम आरोग्य, अप्रतिहत ऐश्वर्य, अनुपम रूप, निर्मल कीर्ति, महान् ऋद्धि, दीर्घ आयुष्य, अवंचक परिजन, भक्तिवान् पुत्र-यह सब इस चराचर विश्व में दया ही का फल है।

यशोधरा बोली कि—यह वचन-कलह करने का काम नहीं, तुझे मेरा वचन मानना पड़ेगा। ऐसा कहकर उसने राजा को

अपने हाथ से पकड़ लिया। तब राजा विचारने लगा कि- यहां एक ओर तो माता का वचन जाता है और दूसरी ओर जीव हिंसा होती है। अतएव अब मुझे क्या करना चाहिये। अथवा गुरु वचन के लोप से भी व्रत भंग करने में विशेष पाप है, इसलिये आत्म घात करके भी प्राणियों की रक्षा करनी चाहिये। यह सोचकर राजा ने म्यान में से भयंकर तलवार खींच ली। तब हा हा! करती हुई माता ने उसकी बाहु पकड़ रखी। वह बोली कि- हे वत्स! क्या तेरे मरने के अनन्तर मैं जीवित रहूंगी? यह तो तू मातृवध करने ही को तैयार हुआ जान पड़ता है।

इतने में कुक्कुट (मुर्गा) बोला सो उसने सुना, जिससे वह बोला कि- हे वत्स! इस मुर्गे को तू मार। कारण यह कल्प है कि ऐसा कार्य करते जिसका शब्द सुनने में आवे उसे अथवा उसके प्रतिबिंब को मारकर अपना इष्ट कार्य करना।

राजा बोला कि- हे माता! मन, वचन और काया से मैं अन्य जीव को मारने वाला नहीं, तब माता बोली, कि हे वत्स! जो ऐसा ही है तो आटे के बनाये हुए मुर्गे को मार। तब मातृ स्नेह से उसका मन मोहित हो गया और उसकी ज्ञान चक्षु बन्द हो गई। जिससे उसने विवेक हीन होकर माता का वचन स्वीकार किया। कारण कि बहुत सा विज्ञान हो तो भी अपने कार्य में वह उपयोगी नहीं होता। जैसे कि- बड़ी दूर से देखने वाली आंख भी अपने आपको नहीं देख सकती।

पश्चात् राजा के हुक्म से शिल्पकार लोगों ने तुरत आटे का मुर्गा बना कर यशोधरा को दिया। तदनन्तर यशोधरा राजा के साथ कुल देवता के पास जाकर कहने लगी कि- इस मुर्गे से संतुष्ट होकर मेरे पुत्र के कुस्वप्न की नाशक हो।

अब माता की प्रेरणा से राजा ने तलवार से वह मुर्गा मारा। तब माता ने कहा कि-अब इसका मांस खा। तब वह बोला-हे माता! हिंसा करना अच्छा परन्तु नरक के दुर्गम दुःख का कारण भूत अनेक त्रस जीवों की उत्पत्ति वाला कृमि युक्त व अति बीभत्स मांस खाना अच्छा नहीं। तब यशोधरा यशोधरा ने बहुत प्रार्थना करी। जिससे राजा ने आटे के मुर्गे का मांस खाया।

अब दूसरे दिन राजा कुमार को राज्य पर स्थापन करके दीक्षा लेने को तैयार हुआ। इतने में रानी ने कहा कि- हे देव! आज का दिन रह जाइए। हे आर्य पुत्र! आज का दिन पुत्र को मिले हुए राज्य के सुख का अनुभव करके मैं भी प्रव्रज्या ग्रहण करूंगी। तब राजा विचार करने लगा कि- यह पूर्वापर विरुद्ध क्या बात है? अथवा कोई स्त्री तो जीवित पति को छोड़ देती है तो कोई मरते के साथ भी मरती है। अतः सर्प की गति के समान टेढ़े स्त्री चरित्र को कौन जान सकता है?

इसलिये देखूं। कि- यह क्या करती है? यह सोचकर वह बोला कि-ठीक है, तो ऐसा ही होगा। तब रानी विचार करने लगी कि जो मैं इनके साथ प्रव्रज्या नहीं लूंगी तो मुझ पर भारी कलंक रहेगा, परन्तु जो किसी प्रकार राजा को मार डालूं व बाल पुत्र के पालनार्थ मैं उनके साथ नहीं मरूं तो वह दोष नहीं माना जायगा।

यह सोचकर उसने नखरूपी सीप में रखा हुआ विष राजा को भोजन में दिया, जिससे तुरन्त राजा का गला घुटने लगा। तब विष प्रयोग जानकर विष वैद्य बुलाये गये, इतने में रानी ने सोचा कि- जो वैद्य आवेंगे तो सब उल्टा हो जावेगा। जिससे शोक

बताती हुई धम से राजा के ऊपर गिर पड़ी और राजा के गले पर अंगूठा दबाकर उसे मार डाला।

अब राजा आर्त ध्यान में मरकर शैलंध्र पर्वत में मोर का बच्चा हुआ। उसे जय नामक शिकारी ने पकड़ लिया। उसे उसने नंदावाड़ ग्राम में चंड नामक तलार (जेलर) को एक पाली रक्त लेकर बेच दिया। तलार ने उसे नृत्य कला सिखाई तथा अनेक जाति के रत्नों की माला से उसका शृंगार किया गया तथा उसके बहुत से पंख आये थे, इसलिये तलार ने उसको गुणधर राजा को भेंट कर दिया।

इस तरफ यशोधरा माँ पुत्र की मृत्यु से आर्त्त ध्यान में पड़ कर उसी दिन मृत्यु को प्राप्त हो धन्यपुर में कुत्ते के अवतार में में उत्पन्न हुई। उस पवन वेग को जीतने वाले कुत्ते को भी उक्त नगर के राजा ने गुणधर राजा को भेट के तौर पर भेज दिया। इस प्रकार मोर का बच्चा व कुत्ता दोनों एक ही समय राजा गुणधर को मिले।

राजा ने हर्षित हो उन दोनों को पालकों के सिपुर्द किया। उन्होंने उनको राजा के विशेष प्रिय समझकर भली-भांति पाला। कालक्रम से वे दोनों मरकर दुष्प्रवेश नामक वन में नोलिया और सर्प हुए और वे एक दूसरे को भक्षण करके मर गये।

पश्चात् वे क्षिप्रा नदी में मत्स्य और शिशुमार के रूप में उत्पन्न हुए। उन्हें किसी मांसाहारी ने नदी प्रवेश करके मार डाला।

पश्चात् वे उज्जयिनी नगरी में मेंढ़े और बकरी के रूप में उत्पन्न हुए। उनको भी शिकार में आसक्त गुणधर राजा ने मार डाला।

पश्चात् उसी नगरी में वे मेंढा व पाड़ा हुए, उनको भी मोह लोलुपी गुणधर राजा ने बहुत दुःख देकर मरवाये। भवितव्यता वश पुनः वे उसी विशाला (उज्जयिनी) नगरी में मातंग के पाड़े में एक मुर्गी के गर्भ में उत्पन्न हुए।

उस मुर्गी को दुष्ट बिलाव ने पकड़ी। जिससे वह इतनी डरी कि उसके वे दोनों अंडे कूड़े पर गिर गये। इतने में एक चांडालिनी ने उन पर कुछ कचरा पटका। उसकी गर्मी से वे पक कर मुर्गे के बच्चे के रूप में उत्पन्न हुए।

उनके पंख चन्द्र की चन्द्रिका के समान श्वेत हुई और शुक के मुख समान तथा गुंजार्द्ध सदृश उनको रक्त शिखा उत्पन्न हुई। उनको किसी समय काल नामक तलवर (कोतवाल, जेलर) पकड़ कर खिलौने की तरह गुणधर राजा के पास ले आया। राजा ने कहा कि– हे तलवर ! मैं जहां-जहां जाऊँ वहां-वहां तूं इनको लाना, तो उसने यह बात स्वीकार की।

अब वसन्त ऋतु के आने पर राजा अन्तःपुर सहित कुसुमाकर नामक उद्यान में गया व काल तलवर भी मुर्गों को लेकर वहां गया। वहां केल के घर के अन्दर माधवी लता के मंडप में राजा बैठा और काल तलवर अशोक वृक्षों की पंक्ति में गया। वहां उसने एक उत्तम मुनि को देखा।

तब उसने उक्त मुनि को निष्कपट भाव से वंदना की और मुनि ने उसको सकल सुखदाता धर्मलाभ दिया। उक्त मुनि का शांत-स्वभाव, मनोहर रूप और प्रसन्न मुख-कमल देखकर तलवर हर्षित हो उनको पूछने लगा कि– हे भगवन् ! आपका कौन-सा धर्म है ?

मुनि बोले कि- हे महाशय ! सदैव सर्व जीवों की रक्षा करना यही इस जगत में सामान्यतः एक धर्म है। उसके विभाग करें तो इस प्रकार हैं— जीवदया, सत्य वचन, पर धन वर्जन, नित्य ब्रह्मचर्य, सकल परिग्रह का त्याग और रात्रि भोजन का विवर्जन। बयालीस दोष रहित आहार का विधि पूर्वक भोजन करना तथा अप्रतिबद्ध विहार करना यह यति जनों का सर्वोत्तम धर्म है।

तब तलवर बोला कि- हे भगवन् ! मुझे गृहस्थ धर्म बताइए। तब परोपकार परायण मुनि इस प्रकार बोले कि-अर्हत् देव, सुसाधु गुरु और जिन भाषित धर्म यही मुझे प्रमाण हैं, ऐसा मानना सम्यक्त्व कहलाता है और उसके पूर्वक (मूल) ये बारह व्रत हैं।

(१) संकल्प करके निरपराधी त्रस जीवों को मन, वचन और काया से मारना व मरवाना नहीं. (२) कन्यालिक आदि स्थूल असत्य न बोलना. (३) सेंध लगाना आदि चोरी कहलाने वाला अदत्त नहीं लेना. (४) स्वदारा संतोष रखना व परदारा का त्याग करना. (५) धन धान्यादि परिग्रह का परिमाण करना. (६) लोभ त्याग कर सर्व दिशाओं की सीमा बांधना. (७) मधु मांसादि का त्याग करके विगय आदि का परिमाण करना. (८) यथाशक्ति अति प्रचंड अनर्थ दंड का त्याग करना. (९) फुरसत के समय सदैव समभाव रूप सामायिक करना. (१०) सकल व्रतों को संक्षेप करके देशावगासिक व्रत करना. (११) देश अथवा सर्व से शक्त्यानुसार पौषध व्रत का पालन करना. (१२) भक्ति पूर्वक साधुओं को पवित्र दान देकर संविभाग व्रत का पालन करना.

इस प्रकार बारह भांति का गृहस्थ धर्म है। उसे विधि पूर्वक पालन करके प्राणी क्रमशः कर्म कचरा विशुद्ध करके परम-पद प्राप्त कर सकते हैं।

जिसे सुनकर काल तलवर बोला कि- हे भगवन् ! यह गृहि धर्म करना मैं चाहता तो अवश्य हूँ, किन्तु यह वंश परंपरागत हिंसा नहीं छोड़ सकता। तब मुनि बोले कि- हे भद्र ! जो तू हिंसा त्याग नहीं करेगा तो इन दोनों मुर्गों की भांति संसार में अनेक अनर्थ पावेगा।

तब तलवर पूछने लगा कि- इन्होंने जीव-हिंसा का त्याग न करके किस प्रकार दुःख पाया है ? तब मुनि ने प्रारंभ से निम्नानुसार उनके भव कहे।

(१) पुत्र और माता (२) मोर और कुत्ता (३) नोलिया और सर्प (४) मत्स्य और शिशुमार (५) मेंढा और बकरी (६) मेंढा और पाड़ा (७) इस समय मुर्गे।

इस प्रकार उनकी विषम दुःख-पीड़ा सुनकर तलवर को निर्मल संवेग उत्पन्न हुआ। जिससे हृदय में वासित होकर वह भक्ति से बोला कि- हे भगवन् ! इस भयंकर संसार रूप कुए में से मुझे अनेक गुण-निष्पन्न गृहि धर्म रूप रस्सी द्वारा बाहर निकालो। तब मुनि ने उस तलवर को श्रावक धर्म दिया तथा उसे भूल-चूक रहित पञ्च परमेष्टि मंत्र सिखाया।

अब उन मुर्गों ने भी स्पष्टतः मुनि-वाक्य सुनकर जाति-स्मरण तथा गृहि धर्म रूप श्रेष्ठ रत्न पाया। वे मुर्गे अति वैराग्य और संवेग पाये हुए, हर्ष से विवश हो उच्च स्वर के साथ कूजने लगे, जिसे राजा ने सुना।

तब राजा अपनी रानी जयावली को कहने लगा कि- देखो ! मैं कैसा स्वर वेधी हूँ ऐसा कहकर एक बाण से दोनों मुर्गे मार डाले। उनमें से सुरेन्द्रदत्त का जीव जयावली के गर्भ में पुत्र के

रूप में और दूसरा (यशोधरा का जीव) पुत्री के रूप में उत्पन्न हुए। उस गर्भ के अनुभाव से रानी हिंसा के परिणाम से रहित हो गई। जिन-प्रवचन सुनने को इच्छुक होने लगी व अभय-दान की रुचि धारण करने लगी।

उसे ऐसा दोहद हुआ कि "समस्त जीवों को अभय दिलाना," तदनुसार राजाने नगर में अमारिपडह बजवाकर उसे पूर्ण किया। कालक्रम से रानी ने युगलिनी के समान उक्त जोड़ा प्रसव किया, तब राजा ने नगर में भारी बधाई कराई। और बारहवें दिन कुमार का अभय और कुमारी का अभयमती नाम रखा गया। वे दोनों सुख पूर्वक बढ़ने लगे।

वे भलीभांति कलाएं सीखकर क्रमशः उत्तम यौवनावस्था को प्राप्त हुए। तब अति हर्षित हो राजा ने इस प्रकार विचार किया। सामंतादिक के समक्ष कुमार को युवराज पद पर स्थापित करना और रूप से देवांगनाओं को जीतने वाली इस कुमारी का विवाह कर देना।

यह सोचकर वह शिकार करने के लिये मनोहर आराम (उपवन) में गया। वहां उसे सुगंधित पवन आने से वह चारों ओर देखने लगा। इतने में वहां तिलकवृक्ष के नीचे मेरु गिरि के समान निष्कम्प और नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि रखने वाले सुदत्त मुनि को देखे।

तब राजा ने 'हाय ! यह तो अपशकुन हुआ'। यह कहकर क्रुद्ध हो उक्त मुनीश्वर की कदर्थना करने के लिये कुत्तों को छुछकार कर छोड़े। वे अति तीक्ष्ण दाढ़ दांत निकालकर पवन से भी तीव्र वेग से जीभ लपलपाते हुए मुनि के समीप आ

[illegible]

वे [illegible] राजा को [illegible] तीन प्रदक्षिणा दे [illegible] भूमि तल में गिर [illegible] चरणों में गिर पड़े। यह देख विस्मित हो राजा सोचने लगा कि इन पुरुषों को धन्य है, परन्तु ऐसे मुनि को कष्ट पहुँचाने वाला मैं अधन्य हूँ।

इतने ही में राजा का बालमित्र अर्हन्मित्र नामक श्रेष्ठिपुत्र जैन मुनि व जिन प्रवचन का भक्त होने से मुनि को नमन करने के लिये वहां आ पहुंचा।

उसने राजा का मुनि को उपसर्ग करने का अभिप्राय जान लिया। जिससे वह बोला कि हे देव ! आप ऐसे उदास क्यों दीखते हो। राजा ने उत्तर दिया—हे मित्र ! मैं मनुष्यों में श्वान समान हूँ। इसलिये मेरा चरित्र सुनने का तुझे कोई प्रयोजन नहीं। तब वह मित्र बोला कि— हे देव ! ऐसा वचन न बोलो। तुम शीघ्र घोड़े पर से उतरो और उक्त सुदत्त मुनि भगवान को वन्दन करने चलो। क्या आपने इनका जगत् को आश्चर्य में डालने वाला चरित्र नहीं सुना ?

तब राजाने सम्भ्रान्त होकर उसको कहा कि—हे मित्र ! मुझे वह बात कह, क्योंकि सत्पुरुष की कथा भी पापरूप अंधकार का नाश करने के लिये सूर्य की प्रभा के समान है। तब अर्हन्मित्र बोला कि—कलिंग देश के अमरदत्त राजा का सुदत्त नामक पुत्र था। वह न्यायशाली राजा हुआ। उसके सन्मुख किसी समय तलवार एक चोर को लाया और कहने लगा कि— हे देव ! यह

हे राजन् ! पाप कलंक रूप पंक को धोने के लिये जिने
प्रणीत प्रवचन के वाक्य और अनुष्ठान रूप पानी के अतिरि
अन्य कोई समर्थ नहीं। तब हृदयगत अभिप्राय कह देने से रा
अत्यन्त हर्षित हो, नेत्र मे आनन्दाश्रु भर, मुनि को नमन कर
विनंती करता है कि- हे भगवन् ! इस पाप का निवारण हो स
ऐसा क्या प्रायश्चित है ? मुनि बोले कि, निदान कर्म से दू
रहकर उसके प्रतिपक्ष की आ-सेवा करना (यही इसक
प्रायश्चित है)

यहां निदान यह है कि, यह पाप तूं ने मिथ्यात्व से मिले
हुए अज्ञान के कारण किया है। कारण कि अन्यथा स्थित भाव
को अन्यथा रूप से ग्रहण करना मिथ्यात्व है।

हे राजा ! तू ने श्रमण को देखकर अपशकुन हुआ ऐसा
विचार किया और उसके कारण में हे भद्र ! तूं ने यह विचार
किया कि यह मलमलीन शरीर वाला, स्नान और शौचाचार से
रहित तथा परगृह भिक्षा मांग कर जीने वाला है, इससे
अपशकुन माना जाता है। परन्तु अब हे मालवपति ! तू क्षणभर
मध्यस्थ होकर सुन- मल से मलीन रहना यह मलीनता का
कारण नहीं।

कहा है कि- मल से मलीन, कादव से मलीन और धूल
से मलीन हुए मनुष्य मैले नहीं माने जाते, परन्तु जो पापरूप
पंक से मैले हों वे ही इस जीवलोक में मलीन हैं। तथा स्नान
में पानी से क्षणभर शरीर के बहिर्भाग की शुद्धि होती है,
और वह कामांग माना जाता है, इससे महर्षियों को स्नान
करना निषिद्ध है।

स्नान मद और दर्प का कारण होने से काम का प्रथम अंग कहा गया है। इसी से काम को त्याग करने वाले और इन्द्रिय-दमन-रत यतिजन बिलकुल स्नान नही करते।

आत्मारूप नदी है, उसमें संयमरूप पानी भरा हुआ है। वहां सत्य रूप प्रवाह है। शील रूप उसके किनारे हैं। व दया रूप तरंगे हैं। इसलिये हे पांडुपुत्र ! उसमें तू स्नान कर, कारण कि-अन्तरात्मा पानी से शुद्ध नहीं होती।

व्रत व नियम को अखंड रखने वाले, गुप्त गुप्तेंद्रिय, कषायों को जीतने वाले और निर्मल ब्रह्मचारी ऋषि सदैव पवित्र हैं। पानी से भिगोये हुए शरीर वाला नहाया हुआ नहीं कहलाता किन्तु जो दमितेन्द्रिय होकर अभ्यंतर व बाहर से पवित्र हो वही नहाया हुआ कहलाता है।

अंतर्गत दुष्ट चित्त तीर्थ स्थान से शुद्ध नहीं होता, क्योंकि-मदिरा-पात्र सैकड़ों बार पानी से धोने पर भी अपवित्र ही रहता है।

सत्य पहिला शौच है, तप दूसरा है, इन्द्रिय निग्रह तीसरा शौच है, सर्व भूत का दया करना यह चौथा शौच है और पानी से धोना यह पांचवा शौच है। और आरंभ से निवृत्त तथा इस लोक व परलोक में अप्रतिबद्ध मुनि को सर्व शास्त्रों में भिक्षा से निर्वाह करना ही प्रशंसित किया गया है।

फेंक देने में आती होने पर भी पवित्र, सर्व पाप विनाशिनी माधुकरी वृत्ति करना, फिर भले ही मूर्खादि लोग उसकी निन्दा किया करें। प्रान्त (हलके) कुलों में से भी माधुकरी वृत्ति ले लेना अच्छा, परन्तु बृहस्पति के समान पुरुष से भी एकान्त-एक गृह का भोजन करना अच्छा नहीं।

सकल जीवों से मित्रता रख, अधिक गुण वालों पर प्रमोद कर, दुःखी पर करुणा कर और अविनीत देखकर उदास रह। कारण कि- इस प्रकार अतिचार रहित व्रत नियम का पालन कर, अष्ट कर्म का क्षय करके थोड़े समय में परम पद प्राप्त किया जा सकता है।

तब हर्षित होकर राजा बोला कि- हे भगवान! क्या मेरे समान (व्यक्ति) भी व्रत लेने के योग्य हैं? गुरु बोले कि- हे नरवर! तो अन्य कौन उचित है?

तब राजा ने अपने सेवकों को कहा कि- तुम जाकर मंत्रियों को कहो कि- कुमार को राज्याभिषेक करें। मेरे लिये तुम कुछ भी खेद न करो। मैं सुदत्त गुरु से दीक्षा लेता हूं। तदनुसार उन्होंने भी जाकर मंत्री आदि से यह बात कही।

तब वे, रानियां, कुमार, कुमारियां तथा शेष परिजन लोग विस्मित हो शीघ्र उस उपवन में आये।

वहां छत्र चामर का आटोप छोड़कर भूमि पर बैठे हुए राजा को जैसे-तैसे पहिचान कर वे गद्गद् कंठ से इस प्रकार कहने लगे कि- दाढ़ निकाले हुए सर्प के समान, पानी में घिरे हुए मदमत्त हाथी के समान और पिंजरे में पड़े सिंह के समान आप राज्य भ्रष्ट होकर क्या विचार करते हो?

तब राजा ने उन सब को मुनि के वचन यथावत् कह सुनाये, जिसे सुन कुमार तथा कुमारी को जाति-स्मरण उत्पन्न हुआ।

वे संसार से उद्विग्न हो, संवेग पाकर बोलने लगे कि- हे तात! भोगी (सर्प) के समान भयंकर भोगों से हमको कुछ भी काम नहीं। हम भी आपके साथ श्रमणत्व अंगीकार करेंगे। तब राजा बोला कि- जिसमें सुख हो वही करो।

पश्चात् वह हाथी पर चढ़कर चामरों से विंजाता हुआ, मस्तक पर धवल छत्र धारण करके चलने लगा और मागध (भाट, चारण) उसकी स्तुति करने लगे।

उसके पीछे हाथी पर चढ़कर राजा आदि भी चले और प्रत्येक दिशा में रथ व घोड़ों के समूह चलने लगे।

इतने में कुमार की दक्षिण चक्षु स्फुरित हुई व उसने कल्याण सिद्धि भवन में एक कल्याण मय आकृति वाले मुनि को देखा। जिन्हें देखकर कुमार सोचने लगा कि- यह रूप मेरा पूर्व देखा हुआ सा जान पड़ता है। इस प्रकार संकल्प-विकल्प करते वह हाथी के कंधे पर मूर्छित हो गया। उसके समीप बैठे हुए रामभद्र नामक मित्र ने उसे गिरते-गिरते पकड़ लिया। इतने में "क्या हुआ - क्या हुआ?" इस प्रकार कहते हुए राजा आदि भी वहां आ पहुँचे।

पश्चात् उसके शरीर पर चन्दन मिश्रित जल व पवन डालने से वह सुधि में आया और उसे जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त हुआ। राजा ने पूछा कि- हे वत्स! यह कैसे हुआ?

कुमार बोला- हे तात! यह सब अति - गंभीर संसार का विलसित है।

राजा बोला- हे वत्स! इस समय तुझे संसार के विलसित की चिंता करने की क्या आवश्यकता है?

कुमार बोला- हे तात! यह बहुत ही बड़ी बात है, इसलिये किसी योग्य स्थान पर बैठिये ताकि मैं अपना सम्पूर्ण चरित्र कह सुनाऊँ।

राजा के वैसा ही करने पर कुमार ने सुरेन्द्रदत्त के भव से लेकर पिष्टमय मुर्गे के वध से जो-जो क्लेश हुए उनका वर्णन किया।

यह सुनकर मैं यहाँ आया हूँ। पुरोहित के इस प्रकार कहने पर राजा ने अपने मनोरथ नाम के छोटे पुत्र को राज्य पर स्थापित किया।

पश्चात् राजा ने कुमार, यशोधरा, सामंत, मंत्री तथा रानियों के साथ श्री इन्द्रभूति गणधर से दीक्षा ग्रहण की।

अब उक्त यशोधर मुनि षट् काय के जीवों की रक्षा करने में उद्यत हो महान् तप रूप अग्नि से पापरूप तरु को जलाने लगे।

गुरु के चरण में रहकर उन्होंने शुद्ध सिद्धान्त के सार का ज्ञान प्राप्त किया और सर्व आश्रवद्वार बन्द करके उत्कृष्ट चारित्र से पवित्र रहने लगे। पश्चात् आचार्य पद पाकर वे प्रद्वेष रहित हो हितोपदेश देकर भव्यजनों को तारते हुए केवलज्ञान को प्राप्त हुए।

इस प्रकार कर्म की आठ मूल प्रकृति और एकसो अट्ठावन उत्तर प्रकृति का क्षय करके दुःख दूर कर उन्होंने अजरामर स्थान पाया।

विनयवती भी अपने पितादिक को अपना संपूर्ण चरित्र कह कर प्रव्रजित होकर के सुगति को गई।

इस प्रकार यशोधर को प्राणी हिंसा के संकल्प मात्र से कैसी दुःख परंपरा प्राप्त हुई। यह सुन कर हे भव्यों! तुम नित्य दुःख को ध्वंस करने वाली, संसार समुद्र से तारने वाली, सद्धर्म रूपी वस्त्र को बुननेवाली, समस्त भय को नाश करने वाली और अक्षय जीवदया का पालन किया करो।

इस प्रकार यशोधर का चरित्र पूर्ण हुआ।

कहता है वह सत्य है, परन्तु ईस ईशान राजा की रंक (अभागी) पुत्री का क्या हाल होगा ।

कुमार बोला कि- इसको भी यह व्यतिक्रम सुनाया जाय। कारण कि- सम्यक् रीति से यह बात सुनने से कदाचित् यह भी जिनधर्म का बोध पा जाय।

इस बात को योग्य मानकर राजा ने अपने शंखवर्धन नामक पुरोहित से कहा कि- तू कुमारी के पास जाकर यह सब विचार कह आ। तब पुरोहित वहां जाकर व क्षणभर में वापस आकर राजा को कहने लगा कि- कुमार के मनोरथ सिद्ध हुए हैं। राजा ने पूछा कि- किस प्रकार ? तब वह बोला- हे देव ! मैं यहां से वहां जाकर कुमारी को कहने लगा कि- हे भद्रे ! क्षण भर एक चित्त रखकर राजा का आदेश सुन।

तब वह साड़ी से मुख ढांक, आसन छोड़कर हाथ जोड़ती हुई बोली कि- प्रसन्नता से कहिये, तदनुसार मैंने उसे इस भांति कहा।

यह सुनकर मैं यहां आया हूँ। पुरोहित के इस प्रकार कहने पर राजा ने अपने मनोरथ नाम के छोटे पुत्र को राज्य पर स्थापित किया।

पश्चात् राजा ने कुमार, यशोधरा, सामंत, मंत्री तथा रानियों के साथ श्री इन्द्रभूति गणधर से दीक्षा ग्रहण की।

अब उक्त यशोधर मुनि षट् काय के जीवों की रक्षा करने में उद्यत हो महान् तप रूप अग्नि से पापरूप तरु को जलाने लगे।

गुरु के चरण में रहकर उन्होंने शुद्ध सिद्धान्त के सार का ज्ञान प्राप्त किया और सर्व आश्रवद्वार बन्द करके उत्कृष्ट चारित्र से पवित्र रहने लगे। पश्चात् आचार्य पद पाकर वे प्रद्वेष रहित हो हितोपदेश देकर भव्यजनों को तारते हुए केवलज्ञान को प्राप्त हुए।

इस प्रकार कर्म की आठ मूल प्रकृति और एकसो अट्ठावन उत्तर प्रकृति का क्षय करके दुःख दूर कर उन्होंने अजरामर स्थान पाया।

विनयवती भी अपने पितादिक को अपना संपूर्ण चरित्र कह कर प्रव्रजित होकर के सुगति को गई।

इस प्रकार यशोधर को प्राणी हिंसा के संकल्प मात्र से कैसी दुःख परंपरा प्राप्त हुई। यह सुन कर हे भव्यों! तुम नित्य दुःख को ध्वंस करने वाली, संसार समुद्र से तारने वाली, सद्‌गति रूपी वस्त्र को बुननेवाली, समस्त भय को नाश करने वाली और अक्षय जीवदया का पालन किया

इस प्रकार । हुआ।

पश्चात् सोमदत्त उस पंडित की आज्ञा से उसके घर से
छ कर अतिशुद्ध धर्म युक्त गुरु को प्राप्त करने की इच्छा कर
करने लगा। इतने में उसने पूर्वोक्त युक्ति से प्रासुक आहार
ा। तबे युग मात्र निक्षिप्त नेत्र से चलते हुए जैन श्रमण देखे।

ब वह हर्षित हो सोचने लगा कि—मेरे सकल मनोरथ पूर्ण
योंकि कल्पतरु के समान इन पूज्य गुरुओं को मैंने देखा।
पीछे-पीछे जा उद्यान में आकर ठहरे हुए सुबोध गुरु को
करके उसने उक्त तीन पदों का अर्थ पूछा। तब उक्त
र्य ने भी वैसा ही अर्थ कहा।

इसने प्रथम पद का अर्थ तो उक्त मुनियों के ग्रहण किये हुए आहार को देखकर ही जान लिया था। परन्तु शेष पद जानने के लिये वह रात्रि को वहीं ठहरा। तब आवश्यकादिक कर पोरिसी कहकर आचार्य की आज्ञा ले मुनि-गण सोये। इतने में आचार्य उठे। उन्होंने उपयुक्त होकर वैश्रमण नाम का अध्ययन परावर्त्तन करना शुरू किया। इतने में कुबेर देवता का आसन चलायमान होने से तत्काल वहां वह उपस्थित हुआ।

वह एकाग्र चित्त से उक्त अध्ययन सुनने लगा। पश्चात् ध्यान समाप्त होने पर वह गुरु चरणों को नमन करके कहने लगा कि- जो इच्छा हो सो मांगो। तब गुरु बोले कि-तुझे धर्मलाभ होओ।

तब देदीप्यमान मनोहर उक्त कुबेर अति हर्षित मन से गुरु के चरणों को नमन करके स्वस्थान को गया।

यह देख कर सोमवसु ने अति हर्षित हो शुद्ध धर्म रूप धन पाया। वह मनमें सोचने लगा कि--अहो! इन गुरु-भगवान की त्रिलोक प्रसिद्ध कैसी निरीहता है। पश्चात् उसने अपना वृत्तान्त कह कर सुघोषगुरु से दीक्षा ग्रहण करी। इस प्रकार वह मध्यस्थ और सौम्यदृष्टि रखता हुआ अनुक्रम से सुगति को पहूँचा।

इस प्रकार सोमवसु को प्राप्त हुए बोधिलाभ रूप श्रेष्ठतम फल का विचार करके हे भव्यों! तुम शुद्ध भाव से माध्यस्थ्य गुण धारण करो।

— — र्ण हुई।

अर्थ:—गुणरागी पुरुष गुणवान जनों का आदर क
है, निर्गुणियों की उपेक्षा करता है। गुणों का संग्रह करने
प्रवृत्त रहता है और प्राप्त गुणों को मलीन नहीं करता।

टीकार्थ:—धार्मिक लोगों में होने वाले गुणों में जो स
प्रसन्न रहता हो वह गुणरागी है। वह पुरुष गुणवान्
श्रावकादिक को बहुमान देता है याने कि उनकी ओर प्रीति
मन, रखता है। वह इस प्रकार कि (वह सोचता है कि) अ
ये धन्य हैं इनका मनुष्य जन्म सफल हुआ है, इत्यादि। तो इ
पर से तो यह आया कि निर्गुणियों की निन्दा करे, क्योंकि-ज
यह कहा जाय कि देवदत्त दाहिनी आंख से देख सकता है त
बाईं से नहीं देख सकता है यह समझा ही जाता है।

कोई कोई कहते हैं कि शत्रु में भी गुण हों तो वे ग्रहण करन
चाहिये और गुरु में भी दोष हों तो कह देना चाहिये परन्तु
ऐसा करना धार्मिक जन को उचित नहीं, इसीलिये कहते हैं कि-
वैसा पुरुष निर्गुणियों की उपेक्षा करता है, याने कि स्वतः संक्लिष्ट
चित्त न होने से उनकी भी निंदा नहीं करता है। जिससे वह ऐसा
विचार करता है कि— सत् या असत् पर-दोष कहने व सुनने में
कुछ भी गुण प्राप्त नहीं होता। उनको कहने से वैर बुद्धि होती है
और सुनने से कुबुद्धि आती है।

अनादि काल से अनादि दोषों से वासित हुए इस जीव में
जो एकाध गुण मिले तो भी महान् आश्चर्य मानना चाहिये।

उसकी मनोरमा नामक भार्या थी। उसकी पूर्ण गुणवती रोहि
नामक बालविधवा पुत्री थी। वह जिन सिद्धान्त के अर्थ
पूछकर अवधारण करके समझी हुई थी। वह त्रिकाल जिनपू
करती। सफल पाठ करती। तथा नित्य निश्चिन्तता से आवश्य
आदि कृत्य करती थी। वह धर्म का संचय करती। किसी क
ठगती नहीं, गुरुजनों के चरण पूजती और कर्मप्रकृति आ
ग्रंथों को अपने नाम के समान विचारती थी।

वह श्रेष्ठ दान देती, गंगाजल के समान उज्ज्वल शील धारण
करती, यथाशक्ति तप करती और शुद्ध मन रखकर शुभ
भावनाओं का ध्यान करती थी इस प्रकार वह निर्मल गृहिधर्म
पालती, सम्यक्त्व में अचल रहती, मोह को बलपूर्वक तोड़ती
और सच्चे जिनमत को प्रकट करने में कुशल रहती हुई दिवस
व्यतीत करती थी।

अब इधर चित्तवृत्ति रूप वन में निखिल जगत् को दबाकर
रखने में अतिशय प्रचंड मोह नामक राजा निष्कंटक राज्य
पालता था। उसने किसी समय अपने दूत के मुख से सुना
कि रोहिणी उसके दोष प्रकट करने में प्रवीण रहती है। यह
सुनकर वह अति उद्विग्न हुआ। वह सोचने लगा कि- देखो,
वह अति कपटी सदागम से भ्रमित चित्त वाली रोहिणी हमारे
दोष प्रकट करने में कितना भाग लेती है? अब जो यह और
कुछ समय इसी प्रकार करती रहेगी तो हमारा सत्यानाश कर
गी व कोई हमारी धूल भी नहीं देख सकेगा।

वह इस तरह विचार कर ही रहा था कि इतने में रागकेशरी
मक उसका पुत्र वहां आ पहुँचा। उसने इसे नमन किया,
न्तु मोह राजा इतना चिन्तामग्न हो गया था कि उसे उसका

... कहा। तब रोहिणी बोली कि— हे नाथ ! आप इतनी चिंता क्यों करते हो ? क्योंकि मैं तो आपका सारे विश्व में पुत्र के बिना होता नहीं देख सकता। तब मोहराजा ने उस रोहिणी का यथोचित वृत्तान्त कह सुनाया। जिसे सुन चित्त में दग्ध हुआ हो इस भांति उदास हो गया।

तब मोह राजा का समस्त सैन्य भी पुष्प, ताम्बूल तथा सांसारिक कार्य छोड़कर बिना प्रमाद हो उदासीन हो गया। इतने में एक बालक तथा एक स्त्री अट्टहास से हँसने लगे, जिसे मोह राजा ने सुना। तब अतिशय क्रोध से दीर्घ निःश्वास छोड़कर वह सोचने लगा कि— मेरे दुःखी होते हुए कौन इस प्रकार मुझे छलकर आनन्द उड़ाता है। तब दुष्टाभिसन्धि नामक मंत्री अपने कुपित स्वामी का अभिप्राय जानकर सावधान हो इस प्रकार विनती करने लगा।

हे देव ! राज कथा—स्त्री कथा—देश कथा और भोजन कथा का चार मुखवाली और योगिनी के समान जगत् के लोगों को मोहित करने वाली यह विकथा नामक मेरी स्त्री है। इसी भांति यह बालक मेरा अत्यन्त प्रिय प्रमाद नामक पुत्र है। अ... ने अकारण क्यों हँसे सो आप ही इनसे पूछिए। तब निद्राक... मोह राजा ने उनको पूछा कि— तुम क्यों हँसे ? तब यह ... बोलने लगी कि-हे पूज्य ! आप भली प्रकार सुनिये।

बालक से भी हो सके ऐसे कार्य में आप इतनी चिन्... क्यों करते हो ? इसीसे विस्मित होकर मैं व मेरा पुत्र हँसे... आपकी कृपा हो तो इस रोहिणी को आधे क्षण में धर्म... करने को मैं समर्थ हूँ। मेरे सम्मुख यह बिचारी किस गि... में है। जो उपशान्त कषायी और मनःपर्ययज्ञानी हुए हैं ...

कईयों को मेरे पुत्र के साथ रहकर चारित्र से भ्रष्ट किये हैं। उनकी संख्या ही कौन कर सकता है ? तथा मैंने जो चौदह-पूर्विओं को भी धर्म से डिगा दिये हैं । वे अभी तक आपके चरणों में धूल के समान लौटते हैं।

यह सुन मोह राजा सोचने लगा कि-मैं धन्य हूँ कि-मेरे सैन्य में स्त्रियां भी ऐसी जगद्विजय करने वाली हैं । यह सोचकर मोह राजा ने उसे उसके पुत्र के साथ अपने हाथ से बीड़ा दिया तथा हर्षित हो उसका सिर चूमा। पश्चात् वह बोला कि-मार्ग में तुझे कुछ भी विघ्न न हो, तेरे पीछे तुरन्त ही दूसरा सैन्य आ पहुँचेगा । यह कह उसे विदा किया । वह रोहिणी के समीप आ पहुँची।

अब उस योगिनी के उसके चित्त में प्रवेश करने से वह (रोहिणी) जिन मंदिर में जाकर भी भिन्न २ श्राविकाओं के साथ अनेक प्रकार की विकथाएं करने लगी । उसने जिनपूजा करना छोड़ दिया। प्रसन्न मन से देववंदन छोड़ दिया और अनेक रीति से बकबक करती हुई दूसरों को भी बाधक हो गई।

श्रीमन्त की लड़की होने से कोई भी उसे कुछ कह नहीं सकता था । जिससे वह विकथा में अतिशय लीन होकर स्वाध्याय ध्यान से भी रहित होने लगी । तब एक श्रावक ने उसे कहा कि-हे बहिन ! तू अत्यन्त प्रमत्त होकर धर्मस्थान में ऐसी बातें क्यों करती है ? क्योंकि जिनेश्वर ने भव्यजनों को विकथाएं करने का सदा निषेध किया है । वह इस प्रकार कि-अमुक स्त्री सौभाग्यशाली, मनोहर, सुन्दर नेत्रवाली भोगिनी है। इसकी कटि मनोहर है । उसका कटाक्ष

मनोहर है। अमुक स्त्री को धिक्कार हो; क्योंकि उसकी चाल ऊंट के समान है। यह मलीन शरीर वाली है। उसका स्वर श्वान के समान है। यह दुर्भागिनी है। इस भांति स्त्री की प्रशंसा व निन्दा करने की बातें धर्मार्थी पुरुष ने नहीं करनी चाहिये।

अहो! खीर में जो मधुर मधु, गौघृत और शर्करा (शक्कर) डाल तो कैसा सरस होता है? अहो रस तो सबसे श्रेष्ठ है। शाकों के अतिरिक्त मुख को सुखकर अन्य क्या हो सकता है? पक्वान्न के बिना अन्य कौन मन को प्रसन्न करता है? तांबूल का स्वाद निराला ही है। इस प्रकार खाने पीने के संबन्ध की बातें चतुर मनुष्यों ने सदैव त्याग करना चाहिये।

मालवा तो धान्य और सुवर्ण का भंडार है। कांची का क्या वर्णन किया जाय। उद्भट सुभटों वाली गुजरात में तो फिरना ही मुश्किल है। लाट तो किराट के समान है। सुख निधान काश्मीर में रहना अच्छा है। कुंतल देश तो स्वर्ग समान है ऐसी देश कथा बुद्धिमान पुरुष ने दुर्जन के संग समान त्यागना चाहिये।

यह राजा शत्रु समूह को दूर करने में समर्थ है। प्रजाहितैषी है और चौरों को मारने वाला है। उन दो राजाओं का भयंकर युद्ध हुआ। उसने इसको ठीक बदला दिया। यह दुष्ट राजा मर जाय तो अच्छा। इस राजा को मैं अपना आयुष्य अर्पण करके कहता हूं कि, यह चिरकाल राज्य करे। इस प्रकार की महान् कर्मबंध की कारण राजकथा को पंडितों ने त्यागना चाहिये।

वैसे ही शृंगार रस उत्पन्न करने वाली मोह पैदा करने वाली हास्य क्रीड़ा उत्पादक और परदोष प्रकट करने वाली

तब वे भी शीघ्र नहा धो कौतुक मंगल कर वहां आ राजा को जय विजय शब्द से वधाई देकर सुख से बैठे । पश्चात् राजा, रानी को परदे में भद्रासन पर बिठा फूल फल हाथ में धर उनको उक्त स्वप्न कहने लगा ।

वे शास्त्र विचार कर राजा से कहने लगे कि शास्त्र में बयालीस जाति के स्वप्न और तीस जाति के महा स्वप्न कहे हुए हैं । जिनेश्वर और चक्रवर्ती की माताएं हाथी आदि चौदह स्वप्न देखती हैं । वासुदेव की माता सात देखती है । बलदेव की माता चार देखती है और मांडलिक राजा की माता एक देखती है । रानी ने स्वप्न में सिंह देखा है । जिससे पुत्र होगा और वह समय पाकर या तो राज्यपति राजा होगा अथवा मुनि होगा ।

राजा ने उनको बहुत सा प्रीतिदान देकर विदा किया । पश्चात् रानी उत्तम दोहद पूर्ण करती हुई गर्भ वहन करने लगी । उसने समय पर पूर्व दिशा जैसे सूर्य को प्रकट करती है वैसे ही कान्तिवान् पुत्र का प्रसव किया । तब राजा ने बड़ी धूमधाम से उसकी बधाई कराई । वह भद्रकारी और नंदीकारी होने से उसका नाम भद्रनंदी रखा गया । वह पर्वत की गुफा में उगे हुए वृक्ष के समान पांच धात्रियों के हाथ में रहकर बढ़ने लगा ।

समयानुसार वह सर्व कलाओं में कुशल हुआ और उसका तमाम परिजन उसके अनुकूल रहने लगा । इस प्रकार वह परिपूर्ण और पवित्र लावण्य रूप जल के सागर समान यौवन वय को प्राप्त हुआ । तब राजा ने उसके लिये पांच सौ महल बांधकर उसका श्री देवी आदि पांच सौ राजपुत्रियों से विवाह किया । उनके साथ वह किसी भी प्रकार की बाधा बिना [illegible]

देव भुवन के अंदर स्थित दोगुंदक देव के समान विषय सुख भोगने लगा।

वहां स्तूपकरंड उद्यान में एक समय भगवान् वीर प्रभु पधारे। उसी समय समाचार देनेवाले ने शीघ्र जाकर राजा को बधाई दी। राजा ने उसे साढे बारह लाख प्रीतिदान दिया। पश्चात् कोणिक के समान वह वीर प्रभु को वन्दना करने के लिये रवाना हुआ।

भद्रनंदी कुमार भी बाजे गाजे से चलता हुआ धर्मशील परिवार सहित, उत्तम रथ पर चढ़कर वीर प्रभु को नमन करने के लिये आया। कुमार की प्रीति के कारण अन्य भी बहुत से कुमार परिजन सहित प्रभु को वन्दना करने के लिये चले। वे वहां आकर जिन प्रभु को नमन कर धर्म सुनने लगे। वीर प्रभु ने भी उनको 'जीव किस प्रकार कर्म से बंधते हैं और किस प्रकार छूटते हैं' यह विषय कह सुनाया।

जिसे सुन, भद्रनंदी आनन्दित मन से वीर प्रभु से सम्यक्त्व मूल निर्मल गृही-धर्म स्वीकार कर अपने स्थान को आया।

इस अवसर पर गौतम स्वामी दुःख शमन करने वाले महावीर प्रभु को पूछने लगे कि-हे प्रभु ! यह भद्रनंदी कुमार देव के समान रूपवान है। चन्द्र के समान सौम्य मूर्तिमान है। सौभाग्य का निधान है। सकल जन को प्रिय है और साधुओं को भी विशेष करके सम्मत है। यह कौन से कर्म से ऐसा हुआ है।

जिनेश्वर बोले कि-यह महाविदेह क्षेत्र में पुंडरीकिणी नगरी में विजय नामक कुमार था। वह सनत्कुमार के समान रूपवान था। उसने एक समय प्रवर गुण शोभित जगद्गुरु

वह पानी स्फटिक के समान साफ और उज्ज्वल हो कर उत्तम हो गया। पश्चात् उस पानी को मंत्री ने इलायची और शर्करादि द्रव्यों से सुवासित किया। तत्पश्चात् राजा के पानी लाने वाले को बुला कर कहा कि- भो भो ! राजा के भोजन करते समय वहां यह पानी रखना। उसने यह बात स्वीकार की। उसके वैसा ही करने पर राजा अपने परिवार सहित वह पानी पीकर अत्यन्त हर्ष से रोमांचित हो प्रशंसा करने लगा कि- अहो ! यह कैसा उत्तम पानी है ?

पश्चात् तुरन्त ही राजा ने पानी लाने वाले को बुला कर पूछा कि- हे भद्र ! तूं ने यह उत्तम पानी कहां से पाया ? तब वह बोला कि- हे देव ! यह उदकरत्न मैं सुबुद्धि मंत्री के पास से लाया हूँ। तब राजा ने सुबुद्धि मंत्री को बुला कर कहा कि- हे मंत्री ! क्या मैं तुझे अनिष्ट हूँ कि- जिससे कल भोजन के समय तेरे यहां से आया हुआ उदकरत्न तूं सदैव नहीं भेजता।

हे देवानुप्रिय ! यह उदकरत्न तूं ने कहां से पाया है। तब मंत्री बोला कि- हे देव ! यह उसी खाई का पानी है। और हे महीनाथ ! इन इन उपायों से मैं ने इसे ऐसा करवाया है। तब राजा ने इन वचनों पर विश्वास न होने से स्वयं यह अनुभव करके देखा तो क्रम से वह पानी मानस सरोवर के जल समान उत्तम हो गया। तब राजा विस्मित हो मंत्री से कहने लगा कि-

हे देवानुप्रिय ! इतने अति सूक्ष्म बुद्धिगम्य परिज्ञान तूं कैसे जान सका है ? तब मंत्री बोला कि- हे देव ! जिन-वचन से।

तब राजा बोला कि- हे मंत्री ! मैं तेरे पास से जिनवचन सुनना चाहता हूँ। तब मंत्री ने केवलिप्रणीत जिनेन्द्र भाषि

हने लगा। मंत्री ने पहिले उसे मुनिजन में स्थित चातुर्याम
र्म सुनाया। पश्चात् सम्यक्त्व मूल गृहस्थ धर्म सुनाया। जिसे
न राजा बोला कि–हे अमात्यवर! यह निर्ग्रंथ-प्रवचन सत्य व
र्थिक है और मैं इसे उसी प्रकार स्वीकार करता हूँ। परन्तु
अभी) मैं तुझसे श्रावक धर्म लेना चाहता हूँ। तब मंत्री बोला
कि–हे स्वामिन्! बिना विलंब ऐसा ही करो। तदनुसार
जितशत्रु राजा सुबुद्धि मंत्री से हर्षित हो भली भांति बारह प्रकार
का गृहस्थ धर्म स्वीकारने लगा।

इतने में वहां स्थविर मुनियों का आगमन हुआ। उनको
वंदना करने के लिये राजा वहां गया। वहां मंत्री ने धर्म सुन;
हर्षित हो गुरु से विनंति करी कि आपसे मैं प्रव्रज्या लूंगा। किन्तु
राजा से पूछ लूं। तब गुरु बोले कि– हे मंत्री! शीघ्र ही ऐसा
कर। जब उसने राजा से पूछा तो वह बोला कि–हे मंत्री! अपने
इस राज्य का कुछ समय पालन करके अपन दोनों दीक्षा लेंगे।

मंत्री ने कहा कि– ठीक तो ऐसा ही करेंगे। यह कहकर उन
दोनों ने धर्म का पालन करते हुए बारह वर्ष व्यतीत किये।

अब पुनः वहां स्थविर आये उनसे धर्म सुन कर राजा ने
अपने अदीनशत्रु नामक पुत्र को राज्य भार सौंप बुद्धिमान्
सुबुद्धि मंत्री के साथ प्रवचन की प्रभावना करते हुए, इन्द्रादिक
को आश्चर्यान्वित कर दीक्षा ग्रहण की। वे दोनों उग्रातिउग्र विहारी
होकर ग्यारह अंग पढ़कर, अति शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालनकर
निरतिचार पन से दीक्षा का पालन करने लगे। वे सकल जीवों
की रक्षा करते हुए शुक्ल ध्यान में लीन हो, केवलज्ञान पाकर
सिद्धि को प्राप्त हुए।

हेयोपादेयविकलो, वृद्धोपि तरुणाग्रणीः ।
तरुणोपि गुणस्तेन, वृद्धैर्वृद्ध इतीरितः ॥ ७ ॥ (इति)

(सारांश यह है कि) जो वृद्ध होने भी हेयोपादेय के ज्ञान से हीन हो वह तरुणों का सरदार ही है, और तरुण होते भी जो हेयोपादेय को ठीक समझकर उसके अनुसार चलता हो वह वृद्ध है। इसलिये ऐसा वृद्ध पुरुष पापाचार याने अशुभ कर्म में कभी प्रवृत्त नहीं होता। क्योंकि वह वास्तव में यथावस्थित तत्त्व को समझा हुआ होता है। जिससे वृद्ध पुरुष अहित के हेतु में प्रवर्त्तित नहीं होता, उसी से वृद्धानुग—वृद्ध के अनुसार चलने वाला पुरुष भी इसी प्रकार पाप में प्रवर्ति नहीं होता, यह मतलब है।

बुद्धिमान वृद्धानुग मध्यमबुद्धि के समान

किस हेतु से ऐसा है, सो कहते हैं:—जिस कारण से प्राणि के गुण संसर्गकृत हैं, याने कि संगति के अनुसार होते हुए जा पड़ते है, इसीसे आगम में कहा है कि—

उत्तमगुणसंसग्गी, सीलदरिद्दं पि कुणइ सीलड्ढं ।
जह मेरुगिरिविलग्गं, तणंपि कणगत्तणमुवेइ ॥ १ ॥

उत्तम गुणवान् की संगति शीलहीन को भी शीलवान करती है, जैसे कि मेरुपर्वत पर ऊगी हुई घास भी सुवर्णरूप हो जाती है।

मध्यमबुद्धि का चरित्र इस प्रकार है।

इस भरतक्षेत्र में क्षितिप्रतिष्ठित नामक नगर है। उसमें बलवान कर्मविलास नामक राजा था। उसकी यथार्थ नाम शुभसुन्दरी नामक एक स्त्री थी और दूसरी सकल आपदा की शाला

समान अकृतमाला नामक स्त्री थी। उन दोनों स्त्रियों के धनीधी और बाल नामक दो पुत्र थे। वे परस्पर प्रीति युक्त हो एक समय किसी उद्यान में बाल-क्रीड़ा करने को गये।

वहां उन्होंने एक मनुष्य को फांसी खाते देखा। तब बाल उसकी फांसी दूर कर उसे फांसी खाने का कारण पूछने लगा।

वह बोला कि- यह बात मत पूछो। यह कहकर वह पुनः फांसी खाने को तैयार हुआ। तब जैसे वैसे उसे रोक कर बाल उसे आदर से पूछने लगा, तो वह बोला कि- हे भद्र ! मेरा नाम सुदर्शन है। मेरा एक भवजन्तु नामक मित्र था। उसने कुछ समय हुआ सदागम के साथ मित्रता करी। तब से इसका मुझ पर से प्रेम टूट गया। वह स्त्री व पलंग को छोड़ कर दुष्कर तप करने लगा। महान् क्लेश सहने लगा। केश लुंचन करने लगा। भूमि व काष्ठ पर सोने लगा और सामान्य रूखा सूखा खाने लगा। वह स्फुरित ध्यान में चढ़ ज्ञान से भावनाओं को उत्तेजित कर, मुझे छोड़ कर मैं जहां नहीं जा सकता ऐसी निवृत्ति नामक पुरी में चला गया है। जिससे मित्र-वियोग के कारण मैं ऐसा करने लगा हूँ। यह सुन उसके ऐसे दृढ़ प्रेम से प्रसन्न होकर बाल बोला-

मित्र पर वात्सल्य रखने वाले, दृढ़ प्रीतिशाली और परोपकार परायण तेरे समान व्यक्ति को ऐसा ही करना उचित है। क्योंकि मनस्वी पुरुषों को मित्र के विरह में क्षण भर भी रहना घटित नहीं होता। यह सोचकर ही देखो मित्र (सूर्य) का विरह होते ही दिवस भी अस्त हो जाता है।

धन्य है ! तेरे मित्र वात्सल्य को, धन्य है तेरी स्थिरता को, धन्य है तेरी कृतज्ञता को और धन्य है तेरे दृढ़ साहस को।

तब वह भय से विह्वल होकर बोला कि-उस क्रूर-कर्मी का तो मैं नाम भी उच्चारण नहीं कर सकता। तब राजकुमार बोला कि- तूं हमारे सन्मुख लेश मात्र भी भय न रख। हे भद्र ! अग्नि शब्द बोलने से मुख में दाह नहीं उत्पन्न होता। तब बहुत आग्रह होता जानकर स्पर्शन दीनता पूर्वक बोला कि-उस पापी शिरोमणि का नाम संतोष है।

तब राजकुमार विचार करने लगा कि-इससे अब प्रभाव का लाया हुआ सम्पूर्ण वृत्तान्त घटित हो जाता है। पश्चात् दिन स्पर्शन ने सिद्ध योगी की भांति नगर में प्रवेश किया। बालकुमार तो उसके अत्यंत वशीभूत हो गया कि मनीषीकुमार नहीं हुआ। उन्होंने यह सब वृत्तान्त अपनी अप माताओं को कहा, तो अकुशला बोली कि-हे पुत्र ! सब ठ हुआ है। शुभसुन्दरी अपने पुत्र को मधुर वाक्यों से क लगी कि- हे वत्स ! इस पापमित्र के साथ सम्बन्ध रख अच्छा नहीं।

वह बोला कि-हे माता ! तेरी बात सत्य है, परन्तु क्या कर क्योंकि अपनाये हुए को अकारण छोड़ना योग्य नहीं है।

शुभसुन्दरी बोली कि- हे पुत्र ! तेरी पवित्र बुद्धि को धन् है, तेरी नतवात्सल्यता को धन्य है और तेरी नीति निपुणता भी धन्य है। क्योंकि- सज्जन पुरुष सदोष वस्तु को भी अकार नहीं तजते। इस विषय में विवाह करके गृहवास में रह तीर्थंकर ही उदाहरण है। परन्तु जो पुरुष अवसर प्राप्त होने प भी मूर्ख बनकर सदोष का त्याग नहीं करते, उनका विनाश होने में संशय नहीं।

राजा कर्मविलास भी स्त्रियों के मुख से उक्त बात जानकर मनीषी पर प्रसन्न हुआ और बाल के उपर रुष्ट हुआ। बालकुमार

स्पर्शन के दोष से अन्य कार्य छोड़कर विलास में पड़ा हुआ किंचित् भ्रमित और काम से चैतन्य हीन हो गया । तब मनीषीकुमार ने स्पर्शन की मूल शुद्धि बताकर बाल को कहा कि-हे भाई! इस स्पर्शन शत्रु का तू किसी भी स्थान में विश्वास मत करना।

बाल बोला कि- हे बन्धु ! यह तो सकल सुखदायक अपना उत्तम मित्र है, उसको तू शत्रु कैसे कहता है । मनीषी सोचने लगा कि-यह बाल अकार्य करने में तैयार हो गया है। इसलिये सैकड़ों उपदेशों से भी यह नहीं मानेगा। क्योंकि ऐसा कहा है कि-दुर्विनीत मनुष्य जिस समय अकार्य में प्रवृत्त होवें उस समय सत्पुरुष ने उनको उपदेश न करके उनकी उपेक्षा करना चाहिये। इस प्रकार अपने चित्त में विचार करके मनीषीकुमार ने बाल को शिक्षण देना छोड़ अपने कार्य में उद्यत हो, मौन धारण कर लिया।

उक्त राजा की सामान्यरूपा नामक एक रानी थी, और उसके मध्यमबुद्धि नामक पुत्र था। वह उस समय देशान्तर से घर आया और स्पर्शन को देख हर्षित हो बाल से पूछने लगा कि-वह कौन है ? तब बाल ने उसका परिचय दिया।

पश्चात् बाल के कहने से स्पर्शन मध्यमबुद्धि के अंग में घुसा, जिससे वह भी बाल के समान विह्वल चित्त हो गया।

मनीषी को इस बात की खबर होते ही उसने मध्यमबुद्धि को स्पर्शन की मूल से की हुई शोध बताई तब मध्यमबुद्धि संशय में पड़कर विचार करने लगा कि- एक ओर तो स्पर्शन का सत्सुख है और दूसरी ओर भाई मना करता है। अतएव मुझे क्या करना उचित है सो मैं भली भांति जान नहीं सकता।

इतने में उनके शरीर में से निकलते हुए काले, लाल परमाणुओं से बनी हुई भयंकर आकृति वाली एक स्त्री निकली। वह भगवान का तेज न सह सकने से पर्षदा से बाहर पराङ्मुख हो, भिन्न होकर खड़ी रही। अब देव अपनी स्त्री सहित उठकर बोला कि–हे भगवन्! मैं इस महा पाप से किस प्रकार मुक्त होऊं? तब मुनीश्वर बोले:—

हे देव! यह तुम्हारा दोष नहीं, परन्तु यह रूप एक पापिनी स्त्री का दोष है। तब उन्होंने पूछा कि– वह कौन है? गुरु ने अमृतमय वाणी से कहा—हे भद्र! वह विषयतृष्णा है। उसे देवता भी नहीं जीत सकते हैं। वह सर्व दोष रूप अंधकार को विस्तारने में रात्रि समान है। तुम तो स्वरूप में निर्मल स्फटिक के समान हो किन्तु यह स्त्री ही सर्व दोषों के कारण रूप में स्थित है। वह यहां रह सकने में असमर्थ होने से अभी दूर जा खड़ी है व यह बाट देख रही है कि तुम मेरे पास से कब रवाना होओगे।

वे बोले कि–हे भगवान्! इससे हमारा कब छुटकारा होगा? गुरु बोले कि–इस भव में तो नहीं भवान्तर में होगा परन्तु सम्यक्त्व के प्रभाव से वह अब तुमको सता न सकेगी। यह सुनकर उन्होंने मोक्ष सुख का देनेवाला सम्यक्त्व अंगीकृत किया।

अब ऋजु राजा प्रगुणा रानी मुग्धकुमार तथा अकुटिला पुत्र वधू इन चारों ने गुरु को अपनी अपनी विटम्बना कही।

इसी समय उनके अंग में से निकले हुए श्वेत परमाणु से बना हुआ एक निष्कपटी बालक प्रकट हुआ वह बोला कि–मैंने तुमको बचाया है। यह कहकर वह

हुआ सब के आगे खड़ा हुआ। तत्पश्चात् उनके शरीर में से एक कुछ काले वर्ण वाला बालक निकला, तथा उसके अनन्तर तीसरा अतिशय काले वर्ण वाला बालक निकला। वह तीसरा बालक अपना शरीर बढ़ाने लगा। इतने में श्वेत बालक ने उसे थप्पा मार कर रोक दिया पश्चात् वे दोनों काले बालक गुरु की पर्षदा में से चले गये।

गुरु बोले कि- हे भद्रो! इस विषय में तुम्हारा कुछ भी दोष नहीं किन्तु इन अज्ञान व पाप नामके दोनों काले बालकों का दोष है। वह इस प्रकार कि, तुम्हारे शरीर में से जो पहिले यह अज्ञान निकला, वही समस्त दोषों का कारण है। यह जब तक शरीर में रहता है तब तक प्राणी कार्याकार्य को नहीं जान सकते। वैसे ही गम्यागम्य भी नहीं जानते। जिससे वे जीव दुःखदायक पाप की वृद्धि करते हैं। सब के प्रथम जो श्वेत बालक निकला था वह आर्जव गुण है।

अज्ञान से तुम्हारा पाप बढ़ रहा था, उसे इसने रोक दिया. और तुम्हें मैंने बचाया है ऐसा भी इसीने कहा था। अतः जिनके चित्त में आर्जव रहता है। उनको भाग्यशाली ही मानना चाहिये। वे अज्ञान से पापाचरण करते हैं तथापि उनको बहुत थोड़ा पाप लगता है। इसलिये तुम्हारे समान भद्र जनों को अब अज्ञान व पाप को दूर करके सम्यक् धर्म सेवन करना चाहिये।

पंडितों ने मुक्ति प्राप्त करने के लिये इस संसार में विशुद्ध ही को सदैव ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि अन्य सर्व दुःख का कारण है। प्रिय संयोग अनित्य व ईर्ष्या व शोकादिक से भरपूर है तथा यौवन भी कुत्सित आचरणास्पद व अनित्य है।

लोगों ने अत्यन्त प्रार्थना करके उसे उक्त व्यन्तर से छुड़ाकर घर ले गये।

बाल मध्यमबुद्धि को पूछने लगा कि- हे भाई! तूने उस वासभवन से निकलती किसी स्त्री को देखा है? मध्यमबुद्धि ने कहा—हां देखी है. तब उसने पूछा-हे भाई! वह किसकी स्त्री थी? मध्यमबुद्धि बोला-वह यहीं के राजा की मदनकंदली नामक रानी थी।

यह सुन बाल बोला कि-वह मेरे समान व्यक्ति को कहां से होवे? इस पर से मध्यमबुद्धि उसका आशय समझ कर कहने लगा कि हे भाई! यह तुझे कौनसी बला लगी है, कि जिससे तूं ऐसा दुःखी होता है। क्या तूं भूल गया कि अभी ही तुझे बड़ी मेहनत से छुड़ाया है। यह सुन बाल कृष्ण काजल के समान मुख करने लगा। तब मध्यम कुमार उसे अयोग्य जान कर चुप हो रहा।

इतने में सूर्यास्त होते ही बाल अपने घर से निकलकर उक्त राजा के घर की ओर रवाना हुआ। तब भाई के स्नेह से मुग्ध हो मध्यमकुमार उसके पीछे गया। वहां किसी पुरुष ने आ, बाल को मजबूत बांधकर रोते हुए को आकाश में फेंका। तब "अरे कहां जाता है, पकड़ो, पकड़ो!" इस प्रकार बोलता हुआ मध्यमकुमार उसको सहायता को आ पहुँचा।

इतने में तो वह पुरुष बाल को पकड़कर अदृश्य हो गया, तो भी मध्यम कुमार ने भाई की शोध करने की आशा से मुंह नहीं मोड़ा। वह भटकता भटकता सातवें दिन कुशस्थलपुर में पहुँचा। परन्तु उसने किसी जगह भी अपने भाई का समाचार न पाया। तब वह भ्रातृवियोग से दुःखित हो गले में पत्थर

बांधकर कुए में गिरने को उद्यत हुआ। इतने में उसे नन्दन नामक राजकुमार ने रोका।

पश्चात् नंदन के पूछने पर उसने सम्पूर्ण वृत्तांत सुनाया, तो नन्दन ने उसे कहा कि–जो ऐसा है तो, सिद्ध के समान तेरा इष्ट पूर्ण हुआ समझ। वह इस प्रकार कि–

यहां हरिश्चन्द्र नामक राजा है। उसे दुश्मन दबाने लगे तो उसने अपने मित्र रतिकेति नामक विद्याधर को प्रणाम कर प्रार्थना करी कि– हे मित्र तूं किसी भी प्रकार ऐसी युक्ति कर कि मेरे शत्रु का नाश हो। तब उसने राजा को शत्रुविनाशिनी विद्या दी। तब से राजा ने उसकी छः मास पर्यन्त की पूर्व सेवा पूरी करी है, और अब उसकी साधना करने का अवसर प्राप्त हुआ है। जिससे होम करने के लिये रतिकेति विद्याधर आठ दिन पहिले किसी लक्षणवान् पुरुष को आकाश मार्ग से लाया हुआ है।

उस मनुष्य को राजा ने रक्षार्थ मुझे ही सौंपा है। तब मध्यम बोला कि– यदि ऐसा ही है तो उसे मुझे शीघ्र बता। तब उसने उसे अस्थिपिंजर बने हुए उसको बताया तो उसे पहिचान कर मध्यम कुमार करुणा ला उसके पास से मांगने लगा, तो उसने तुरन्त ही उसको इसके सुपुर्द कर दिया। और उसने मध्यम को कहा कि–यह कार्य राज्यद्रोह है। इसलिये यहां से तूं शीघ्र दूर हो। मैं अपना बचाव स्वयं कर लूंगा।

तब मध्यमकुमार उसका उपकार मान, बाल को साथ ले डरता डरता शीघ्र वहां से निकल क्रमशः अपने नगर में आया। अनन्तर बाल जैसे तैसे कुछ बलवान हुआ। तब उसने नंदन के समान ही अपना सब वृत्तान्त कहा। इस समय मनीषीकुमार भी

[illegible]

राजा पुनः बोला — भविष्य में इसको क्या होने वाला है? गुरु बोले कि [illegible] वहां से भागकर [illegible] ग्राम के नजदीक [illegible] तालाब में थककर स्नान करने को जावेगा। वहां पहिले ही से स्नान करने को उतरी हुई [illegible] को लग जाने से, उसे ([illegible] हुआ) [illegible] एक बाण से मार डालेगा। वहां से वह नरक में जावेगा। वहां से अनन्तकाल तिर्यंच होकर पुनः नरक में जावेगा। इस प्रकार संसार में भटका करेगा।

यह सुन राजा अत्यन्त क्रुद्ध होकर मंत्री को कहने लगा कि-हे मंत्री! इस स्वर्शन को शीघ्र ही मेरे देश से निकाल दो। यदि जो यह पुनः लौट कर आवे तो लोहे की घाणी में डाल कर ऐसा पीलो कि भस्मसात् हो जावे।

तब सूरि महाराज बोले कि- हे नरेश्वर! अन्तरंग शत्रु को जीतने में बाहिरी उपाय नहीं चल सकते। तब राजा पुनः भक्ति पूर्वक गुरु को पूछने लगा कि-हे स्वामिन्! तो अन्य कौनसा उपाय है? पूर्ण ज्ञानी गुरु बोले-

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, संतोषरूप अप्रमाद नामक यंत्र, जिसको कि साधु फिराते हैं। वही अंतरंग शत्रुरूप हाथी का ध्वंस करने में सिंह का काम करता है, और अपार संसार सागर में प्रवहण (जहाज) का कार्य करता है।

यह सुन कर यतिधर्म पालन करने में अशक्त राजा व मध्यम कुमार ने सम्यक्त्वमूल निर्मल श्रावक धर्म को स्वीकार किया।

किन्तु मनीषीकुमार तो उक्त मुनीश्वर से इस प्रकार विनंति करने लगा कि-हे भगवन्! मुझे तो आप संसार समुद्र से तारने वाली दीक्षा ही दीजिये।

तब सूरि बोले कि-हे वत्स! इसमें बिलकुल आलस्य मत कर। पश्चात् राजा विस्मित हो कर मनीषी को कहने लगा कि-कृपा करके मेरे गृह पर पधारिए और मुझे क्षणभर प्रसन्न करिए, कि जिससे हे महाभाग! मैं आपका निष्क्रमणोत्सव करूं।

तब राजा की अनुवृत्ति से वह राजमहल को गया। वहां राजा को आनंदित करता हुआ सात दिन तक रहा। आठवें दिन स्नान विलेपन कर, मुक्तालंकार पहिन जरी के किनार वाले वस्त्र धारण कर उत्तम रथ, कि जिसके ऊपर राजा सारथी होकर बैठा था। उस पर आरूढ़ हो, जंगम कल्पवृक्ष के समान उत्कृष्ट दान देता हुआ, दो चामरों से विजायमान, श्वेत छत्र से शोभित, भाटचारणों के द्वारा दृढ़ प्रतिज्ञा के लिये प्रशंसित होता हुआ, और उसके अद्भुत गुणों से प्रसन्न होकर उसी समय आये हुए देवों से इन्द्र के समान स्तूयमान होता हुआ, वह कुमार बहुत से घुड़ सवार, हाथी सवार, पैदल, रथवान तथा अमात्य व मध्यम के साथ सूरि से पवित्र हुए उक्त स्थान में आ पहुँचा।

पश्चात् रथ से उतर कर पातक से उतरा हो उस भांति पूर्वोक्त प्रमोदशेखर नामक चैत्य के द्वार पर क्षणभर खड़ा रहा।

इतने में राजा को भी मनीषी का चरित्र सम्यक् रीति से निर्मल अन्तःकरण से विचारते हुए, चारित्र परिणाम उत्पन्न हुआ कि-जो धर्म रूप कल्पवृक्ष को वृद्धि करने के लिये मेघ समान है। इस भांति देखो! वृद्धानुगामित्व, प्राणियों के सकल करने के लिये कामधेनु समान होता है।

प्रतीत होता था कि-मानो अनेक वृक्षों वाला उद्यान हो। तथा आकाश में फहराती हुई ध्वजाओं से ऐसा दीखता था, मानो आकाश गंगा की लहरें बह रही हैं। उसके शिखर पर अत्यंत ऊंचे स्वर्णदंड थे तथा वह सुवर्ण कलशों से सुशोभित था। कहीं उसकी चित्रकारी में वेल बूटे थे, कहीं मानो पुलकित शरीरवाले जीवित चित्र दीखते थे। कहीं कवचधारी चित्र थे। कहीं स्फुरित इन्द्रियोंवाले चित्र थे। उनमें स्थान स्थान में हरिचंदन के फूलों के तख्ते भरे हुए थे और उसका जुड़ाई का काम इतना उत्तम था कि मानो वह एक ही पत्थर से बनाया हो ऐसा भासित होता था।

उसमें विविध चेष्टा करती हुई अनेक पुतलियां थी। इससे वह ऐसा लगता था मानो अप्सराओं से अधिष्ठित मेरु का शिखर हो। ऐसे जिनमंदिर में जाकर उन्होंने वहां ऋषभदेव भगवान की सुन्दर प्रतिमा देखी। जिससे हर्षित होकर उन्होंने उनको नमन किया।

अब उस अतिशय रमणीय और फैले हुए पाप रूप पर्वत को तोड़ने के लिये वज्र समान जिनबिंब को निर्निमेष नेत्र द्वारा देखते हुए विमल कुमार विचार करने लगा कि-ऐसा स्वरूपवान बिम्ब मैंने पहिले भी कहीं देखा है। इस प्रकार विचार करता हुआ सहसा वह मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा।

तब उस पर हवा करने पर वह चैतन्य हुआ, तो विद्याधर उसे आग्रह से पूछने लगा कि-यह क्या हुआ? तब रत्नचूड़ के चरण छूकर विमल कुमार अत्यन्त हर्ष से उसकी इस प्रकार स्तुति करने लगा कि-तू मेरा माता पिता है। तू मेरा भा

और मित्र है। तू ही मेरा देव और परमात्मा है और तू ही मेरा जीव है। क्योंकि तू ने देव मनुष्य के सुख का कारणभूत और पापतिमिर को दूर करने के लिये सूर्य समान यह युगादीश्वर प्रभु का बिंब मुझे बताया है। व उसको बताते हुए तूने मुझे सुगति का मार्ग ही बताया है तथा दुःखजाल को नष्ट किया व इस प्रकार परम सौजन्य भाव बताया है।

विद्याधर बोला कि– मैं इसका कुछ भी परमार्थ नहीं समझा। तब विमल बोला कि–मुझे जातिस्मरण हुआ है। मैंने पूर्वभव में अनेकबार जिन बिंब को वन्दन किया है व सम्यक् ज्ञान दर्शन व चारित्र का पालन किया है, तथा मैत्री–प्रमोद–करुणा और माध्यस्थ गुणों की भावना की है, इत्यादि सम्पूर्ण वृत्त मुझे जातिस्मरण से याद आता है। इसलिये हे भद्र! तू ने मुझे ऐसा किया है कि– जितना कोई परमगुरु करते हैं। यह कहकर कुमार विद्याधर के चरणों में गिर गया।

तब विद्याधर ने कहा कि इतनी भक्ति का काम नहीं यह कह कुमार को उठा कर व उसे साधर्मिक मान कर प्रणाम करके विनय पूर्वक कहा कि– हे नरेन्द्रनंदन! मेरा सर्व मनोरथ सफल हुआ है कि–जो तुझे जिनेश्वर भगवान पर ऐसी भक्ति उत्पन्न हुई है। हे कुमार! तू जो इतना अधिक हर्ष करता है सो योग्य ही है। कारण कि-सज्जन दुःख से मुक्ति पाने के कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्य में लीन नहीं होते।

कहा भी है कि:—अज्ञान से अंधे पुरुष स्त्रियों के चंचल कटाक्ष से आकर्षित होकर काम में आसक्त होते हैं। अथवा पैसा कमाने में लीन रहते हैं किन्तु ज्ञानी विद्वान जन का चित्त तो सदैव मोक्ष सुख ही में निमग्न रहता है। क्योंकि हाथी के

के अन्दर प्रवेश करते ही एक मुनियों का समूह देखा । उनके बीच में मैंने एक सुन्दर व तलवार के समान कृष्ण वर्ण देह वाला व पीले केशवाला होने से मानो अग्नि से जलते हुए पर्वत के समान, मूषक के समान छोटे २ कर्ण वाला, विकराल बिल्ली के समान पीले नेत्र वाला, वानर के समान चपटी नाक वाला, मृग के समान अति वे कंठ और ओष्ठ वाला, लम्बे तथा स्थूल पेट वाला, ऐसा उद्वेगकारी रूप वाला किन्तु मधुर शब्दों से धर्म कहता हुआ साधु देखा ।

उसे देखकर मैंने अपने हृदय में सोचा कि इन महाराज का इनके गुणों के अनुकूल रूप नहीं । पश्चात् जिन मंदिर में प्रवेश कर जिन प्रतिमा को स्नान करा, पूजा कर क्षण भर के बाद साधुओं को वन्दन करने के लिये बाहर निकला तो उन्हीं मुनि को मैंने स्वर्ण कमल पर बैठे देखा । उस समय वह रतिरहित कामदेव अथवा रोहिणी रहित चन्द्र समान दिखने लगा । तथा उसे दीप्तिमान सुवर्ण के समान वर्ण वाला, शरीर की कांति से अंधकार को नाश करने वाला, भ्रमर के समान काले बाल वाला, सुन्दर लम्बे कान वाला, नील कमल के पत्र के समान नेत्रवाला, अत्यंत ऊंची व सरल नासिका वाला, कपोत के समान कंठ वाला, नव पल्लव के समान लाल ओष्ठ वाला, सिंह के बच्चे के समान पेटवाला, चौडे वक्षस्थल से मेरु समान लगता तथा सुर व किन्नरों से घिरा हुआ नेत्रों को आनन्दकारी देखा ।

तब मैंने विचार किया कि ये साधु क्षणभर में ऐसे किस प्रकार हो गये ? कदाचित् चंदन गुरु ने मुझे अनेक लब्धियां कही हैं । (उनके प्रताप से ऐसा हुआ होगा.)

यथाः—आमर्षौषधी, विप्रौषधी, खेलौषधी, जल्लौषधी,

गो, संभिन्नश्रोत, अवधिज्ञान, ऋजुमतिज्ञान, विपुलमतिज्ञान,
लब्धि, आशीविषलब्धि, केवलज्ञान, मनःपर्यवज्ञान,
पन, अर्हत्पन, चक्रवर्तीपन, बलदेवपन, वासुदेवपन
स्रव, मध्वाश्रव, सर्पिराश्रवलब्धि, कोष्ठबुद्धि, पदानुसारि
, बीजबुद्धि, तेजोलेश्या, आहारकलब्धि, शीतलेश्या,
लब्धि, अक्षीण महानस लब्धि, और पुलाकलब्धि इत्यादि
सब्धियाँ परिणाम व तप के वश प्रकट होती हैं।

अब इसका विवरण करते हैं:—आमर्ष याने स्पर्श मात्र ही
औषध रूप हो वह आमर्षौषधिलब्धि है। मूत्र और पुरीष के
बिन्दु औषधि हो जाय वह विप्रौषधि है। दूसरे इस प्रकार
व्याख्या करते हैं कि-विड् शब्द से विष्टा और प्रशब्द से पेशाब
लेना। जिससे वे तथा अन्य भी जिनके अवयव सुगंधित होकर
रोग मिटा सकते हैं। उनको उस २ औषधि की लब्धिवाले
जानना चाहिये।

जो सर्व ओर से सर्व इन्द्रियों से सर्वविषयों को ग्रहण करे
अथवा भिन्न २ जाति के बहुत से शब्द सुन सके वह संभिन्न
श्रोतलब्धिवान है।

सामान्य मात्र को ग्रहण करने वाला मनोज्ञानी ऋजुमति है।
वह प्रायः विशेष को ग्रहण न करके घट सोचा जाय तो घट ही को
ग्रहण करता है। वस्तु के विशेष पर्याय को ग्रहण करने वाला
मनोज्ञानी विपुलमति कहलाता है। वह घड़े को सोचते हुए उसके
सैकड़ों पर्याय से उसका ग्रहण कर सकता है।

जंघा व विद्या द्वारा जो अतिशय चलने में समर्थ है वह
चारणलब्धिवान है, वहां जंघाचारण जंघाओं से सूर्य की किरणों
की निश्रा से भी जा सकता है। वह एक उत्पात में रुचकवर पर

और मंद की परस्पर दृढ़ मित्रता हो गई। जिससे वे अति हर्ष से अपने क्षेत्र में एक समय खेलने को आये।

उस क्षेत्र के किनारे उन्होंने एक विशाल भाल नामक पर्वत देखा, जो कि-भ्रमर समान काले केशों की श्रेणीरूप वनस्पति से सुशोभित था। भाल पर्वत के नीचे अंधकार मय दो कोठिरियों युक्त नासिका नामक गुफा देखी। उस गुफा में निवास करने वाले घ्राण नामक बालक तथा भुजंगता बालिका के साथ मंद कुमार ने मित्रता करी।

उस समय बड़ी धूमधाम से उसका आगमनोत्सव किया गया व उसने घ्राण के साथ बुध और मंद की मित्रता जान ली। तब विचार ने एकान्त में पिता को कहा कि–हे तात ! घ्राण के साथ आपको मित्रता रखना अच्छा नहीं। उसका कारण सुनिये–

उस समय मैं आपको व मेरी माता को पूछे बिना ही घर से निकल गया और देशों को देखने के लिये अनेक देशों में फिरा।

एक समय मैं भवचक्र नामक महानगर में आ पहुँचा। वहां राजमार्ग में मैंने एक उत्तम स्त्री को देखा। उसे देखकर मैं प्रमोद से रोमांचित हो गया क्योंकि अपरिचित परन्तु श्रेष्ठ व्यक्ति को देखकर भी चित्त में प्रेम आ जाता है। वह स्त्री भी मुझे देखकर मानो सुख सागर में पड़ी हो अथवा अमृत से सींची गई हो अथवा राज्य पाई हो वैसे हर्षित हुई। पश्चात् मैंने प्रणाम किया तो उसने आशीर्वाद देकर पूछा कि तूं कौन है? तो मैंने भी कहा कि मैं धिषणा और बुध का पुत्र हूँ। हे माता ! मैं माता पिता को पूछे बिना देश देखने की इच्छा से यहां आया हूँ। तब वह मुझ से भेंट करके हर्षाश्रुपूर्ण नेत्र कर कहने लगी–

हे निर्मलकुमार ! मैं धन्य व कृतकृत्य हूँ कि मैंने तुझे आंख से देखा। क्योंकि हे वत्स ! तूं मुझे नहीं पहिचानता है। कारण कि तूं छोटा था तब मैं तुझे छोड़कर चली गई थी। किन्तु मैं बुध राजा की सर्व कार्यों में मान्य व धिषणा की सखी हूँ, मेरा नाम मार्गानुसारिता है। अतः तूं मेरा भानजा (भागिनेय) होता है। तूं ने बड़ा ही उत्तम किया कि–देश देखने की इच्

के हेतु अपने पांच मनुष्यों को गुप्तचर के रूप में सर्व स्थान में भेजा। उनके नाम ये हैं:—स्पर्शन, रसना, घ्राण, दृक् और श्रोत्र ये पांचों जगत् को जीतने में प्रवीण और अनुपम बलवान हैं।

उन पांचों जनों को किसी जगह चारित्र धर्म राजा के संतोष नामक मंत्री ने पूर्व (किसी समय) कौतुक से अपमानित किया था। उसी कारण से यह अंतरंग राजाओं का परस्पर महान् कलह खड़ा हुआ है।

मैं बोला कि-देशों को देखने का मेरा कौतुक अब पूर्ण हुआ। अब मैं मेरे माता पिता के पास जाने को उत्सुक हुआ हूँ। माता बोली की हे-पुत्र! प्रसन्नता से जा। मैं भी वह लोग क्या करते हैं सो देखकर तेरे पास ही आने वाली हूँ। तत्पश्चात् मैं शीघ्र ही यह प्रयोजन निश्चित करके यहां आया हूँ। इसलिये हे तात! इस घ्राण के साथ मित्रता रखना उचित नहीं।

इस प्रकार विचार अपने पिता को कह रहा था कि इतने में तो यहां हे धवल राजन्! मार्गानुसारिता आ पहुँची। उसने विचार की कही हुई सब बात पुनः कहकर समर्थन की। तब बुध के मन में आया कि घ्राण को छोड़ देना चाहिये।

इधर मंदकुमार भुजंगता युक्त होकर घ्राण को लाड़ लड़ाने में आरक्त हो तथा सदा सुगंधित गंधों की खोज करता हुआ, उसी नगर में फिरता हुआ किसी समय अपनी बहिन लीलावती जो कि देवराज की भार्या थी उसके घर गया।

उस समय उसने अपनी सपत्नी (सौत) के पुत्र को मारने के लिये किसी चांडाल के द्वारा सुगन्धि से प्राण हर लेने वाला

संयोग मंगा रखवाया था। उस गंधपुटिका को द्वार पर रख
लीलावती घर में गई हुई थी। इतने में उसने आकर उक्त
टिका देखी।

तब भुजंगता (शौकिनपन) के दोष से वह तुरन्त ही उसे
कर उसमें के गंध द्रव्य को सूंघता हुआ मृत्यु शरण हो गया।
को घ्राण के दोष से मरा हुआ देखकर शुद्ध बुद्धिवान् बुध
य पाकर धर्मघोष सूरि से दीक्षित हुआ। उसने क्रमशः
त अंग-उपांग व पूर्व में विशारद होकर तथा अनेक लब्धियां
दन कर सूरि पद प्राप्त किया।

वह विचरता हुआ यहां आया हुआ मैं स्वयं ही हूँ। अतः हे
र! मेरे व्रत लेने का कारण यह मंद की चेष्टा है। यह सुन
ल राजा विस्मय से आंखें विकसित करने लगा और विमल
दे सर्व जन अंजलि बांधकर निम्नानुसार बोलने लगे:—

अहा! इन पूज्य आचार्य महाराज का कैसा सुंदर स्वरूप
। वाणी कैसी सुन्दर है। कैसी परोपकारिता है। कैसी
तिबोध देने की कला है। तथा कैसी सदा अपने आप ही को
मझाने में तत्परता है। अथवा (यह कहना चाहिये कि) इन
ज्य महात्मा का सकल चरित्र ही कैसा भव्य है।

अब राजा विशेष संवेग पाकर कुमार को कहने लगा कि-हे
वत्स! तू राज्य सम्हाल। मैं तो दीक्षा लूंगा। कुमार बोला कि-
हे तात! क्या मैं आपका अप्रिय पुत्र हूँ कि-जो राज्य देने के
मिष से मुझे भवरूपी कुए में डालते हो?

यह सुन धवल राजा ने मनमें प्रसन्न होकर विमल के छोटे
भाई कमल को जो कि कमलदल के समान नेत्र वाला था, राज्य

आनन्द पाकर हे भव्यो! विमल कुमार के समान सदैव पूर्ण तृष्णा रहित रहो।

॥ इति विमलकुमार चरित्र समाप्त ॥

कृतज्ञता रूप उन्नीसवां गुण कहा। अब परहितार्थकारित रूप वीसवां गुण है। उसका स्वरूप उसके नाम ही से जाना जा सकता है। इसलिये धर्म प्राप्ति के विषय में उसका फल कहते हैं।

परहियनिरओ धन्नो—सम्मं विन्नाय धम्म सब्भावो।
अन्ने वि ठवइ मग्गे—निरीहचित्तो महासत्तो ॥२७॥

मूल का अर्थ—परहित-साधन में तत्पर रहने वाला धन्य पुरुष है, क्योंकि वह धर्म के वास्तविक भाव का यथोचित ज्ञाता होने से निःस्पृह व महा सत्ववान् रहकर दूसरों को भी मार्ग में स्थापित करता है।

टीका का अर्थ—जो स्वभाव ही से परहित करने में अतिशय लीन होता है वह धन्य है। अर्थात् वह (धर्मरूप) धन को पाने के योग्य होने से धन्य कहलाता है। सम्यक् रीति से धर्म के सद्भाव का ज्ञाता याने यथावत् धर्म के तत्व को समझने वाला अर्थात् गीतार्थ इससे अगीतार्थ जो परहित करना चाहता हो तो भी उससे नहीं हो सकता ऐसा कहा है-

तथाचागमः— किं इत्तो कट्ठयरं जं सम्ममनायसमयसब्भावो।
अन्नं कुदेसणाए कट्ठयरागंमि पाडेइ ॥१॥ त्ति ॥

...गम में भी कहा है कि-इससे अधिक दुःख पूर्ण क्या है ...ो शास्त्र का परमार्थ सम्यक् रीति से जाने बिना ही दूसरों ...असद् उपदेश देकर महान् कष्ट में डालते हैं। गीतार्थ हुआ ...अन्य अज्ञानी जनों को सद्गुरु से सुने हुए आगम के ...नों के प्रपंच से मार्ग में याने शुद्ध धर्म में स्थापित करते हैं याने ...करते हैं और धर्म को जानने वाले जो सिखाते हैं उनको ...करते हैं। भीमकुमार के समान।

इस साधु और श्रावक को समानता से लागू होते परहित ...गुण के व्याख्यान पद से साधु के समान श्रावक को भी अपनी ...भूमिका के अनुसार देशना देने में प्रवृत्त होने की सम्मति दी है। ...इससे श्री पांचवे अंग के दूसरे शतक के पांचवें उद्देश में ...कहा है कि—

हे पूज्य ! इस प्रकार के श्रमण माहन की पर्युपासना करने से क्या फल होता है ? हे गौतम ! पर्युपासना से श्रवण होता है। श्रवण से क्या होता है ? ज्ञान होता है। ज्ञान से क्या होता है ? विज्ञान होता है। विज्ञान से क्या होता है ? प्रत्याख्यान होता है। प्रत्याख्यान से क्या होता है ? संयम होता है। संयम से क्या होता है ? अनाश्रव होता है। अनाश्रव से तप होता है। तप से निर्जरा होती है। निर्जरा से अक्रिया होती है। अक्रिया से सिद्धि होती है।

सवणे नाणे य विन्नाणे—पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हए तवे चेव—वोदाणे अकिरिया चेव ॥१॥ गाहा

गाथा का अर्थ—श्रवण, ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान, संयम, अनाश्रव, तप, व्यवदान और अक्रिया (ये एक एक के फल हैं ...

आया। वहां आकर उसने राजा के चरण कमलों में प्रणाम किया तो राजा ने उसे गोद में बिठा कर क्षणभर छाती से लगा नीचे उतारा ताकि वह उचित आसन पर बैठा।

पश्चात् वह अपने नीलकमल समान कोमल हाथों से प्रीति पूर्वक राजा के चरण कमल को अपनी गोद में ले उनकी चंपी करने लगा। इस प्रकार भक्ति करता हुआ वह राजा का हुक्म सुन रहा था। इतने में उद्यान पालक ने आकर राजा को निम्नानुसार बधाई दी।

हे देव ! राजा व देवों से वंदित हुए हैं पादारविन्द जिनके, ऐसे अरविन्द नामक मुनीश्वर बहुत से शिष्यों सहित कुसुमाकर उद्यान में पधारे हैं यह सुन राजा हर्ष से उसे बहुत सा दान देकर बहुत से मन्त्री तथा कुमार को साथ लेकर गुरु चरण को नमन करने आया। व बहुत से यतियों से परिवारित उक्त मुनीश्वर को विधि पूर्वक वंदना करके बैठ गया। तब गुरु ने दुंदुभि समान उच्चस्वर से इस प्रकार धर्म सुनाया।

जो मनुष्य सदैव त्रिवर्गशून्य रहता हो उसका आयुष्य पशु समान निष्फल है। त्रिवर्ग में भी धर्म-साधन मुख्य है, क्योंकि उसके बिना काम व अर्थ नहीं होते। जो मनुष्य धर्म से अलग रहकर मनुष्य जन्म को केवल काम और अर्थ में पूर्ण करता वह मूर्ख सुवर्ण के थाल में धूल डालता है। अमृत से पैर धोता है। चिन्तामणि के बदले काच का टुकड़ा खरीदता है। श्रेष्ठ से सुशोभित हाथी के द्वारा काष्ठ के बोझ उठवाता है। [illegible] तन्तुओं के लिये [illegible] निर्मल मोतियों की माला तोड़ता है [illegible] घर में उगे हुए कल्पवृक्ष को उखाड़ कर [illegible] [illegible]

समुद्र में नाव को फोड़ता है और वह भस्म के हेतु उत्तम चन्दन को जलाता है। इसीलिये पण्डितों ने उक्त मनुष्य जन्म को सत्पुरुषों की संगति से, जिनेश्वर की प्रणति से, गुरु की सेवा से, सदैव दया धारण करके, तप से और दान से सफल करना चाहिये।

कहा है कि—सत्पुरुष की संगति सदैव जीवों के गुण की वृद्धि करती है, दूषण को हरती है, सन्मत का प्रबोध करती है और पाप पंक को शुद्ध करती है। जिनेश्वर को नमन करने की बुद्धि रखने वाले पुरुष के मनोरथ शीघ्र ही सिद्ध होते हैं, विकट इच्छाएं पराभव नहीं करती और संसार के भय की पीड़ा नहीं होती।

गुरु सेवा में परायण पुरुष रोगों से पीड़ित नहीं होता और ज्ञान दर्शन चारित्र रूप सद्गुणों से विभूषित होता है। सदैव दया से अलंकृत पुरुष भारी स्फूर्ति वाला, निरुपम आकार वाला, शरद् पूर्णिमा के चन्द्र समान कीर्तिवाला और मुक्ति सुख को पाने वाला होता है।

जो पुरुष अपनी शक्ति के अनुसार सदैव उत्तम तप तपता करता है। उसके सन्मुख अग्नि जल के समान, सागर भूमि के समान और सिंह हरिण के समान हो जाता है। जो पुरुष अपने न्याय प्राप्त धन को पात्र में खर्च करता है। उसको भ की पीड़ा नहीं होती, सुगति समीप हो जाती है और कुगति दूर रहती है।

इस प्रकार गुरु के वचन सुन राजा ने प्रसन्न होकर कुम आदि के साथ सम्यक्त्व सहित गृहस्थ धर्म स्वीकार किया

तब राजा ने उसको अपने मुकुट के अतिरिक्त शेष अलंकार देकर, अपने छड़ीदार को कहा कि—तू सामन्त आदि लोगों को कह कि आगामी प्रातःकाल को कुमार के सन्मुख जाना संभव है। अतः बाजार सजवा रखो। तदनुसार उसने वैसी ही व्यवस्था कराई। प्रातःकाल हर्षित हो राजा सपरिवार कुमार के सन्मुख गया। तब आकाश में चन्द्र की उस भांति कुमार को आकाश मार्ग से आता देखा। पश्चात् भीमकुमार ने विमान से उतर कर राजा को प्रणाम किया तथा माता आदिका व अन्यजनों का भी यथा योग्य (अभिवादन) किया। तदनन्तर पिता की आज्ञानुसार वह हाथी पर बैठा। उसी भांति बुद्धिल मन्त्री के कुमार ने भी अपने माता पिता आदि सर्व जनों को यथा योग्य किया। भीमकुमार ने प्रसन्न होकर उसने अपने पीछे बिठाया। पश्चात् पिता के साथ वह धवलगृह में पहुँचा।

भोजन करने के अनन्तर राजा ने मन्त्री कुमार को भीम का सर्व चरित्र पूछा तदनुसार उसने जो जैसा हुआ था वैसा ही कह सुनाया। इतने में हरिवाहन राजा को उद्यान पालकों ने हाथ जोड़ कर कहा कि—अरविन्द मुनीश्वर पधारे हैं। तब राजा सपरिवार वहां आ गुरु को हर्ष-पूर्वक नमन करके उचित स्थान पर बैठ गया। तब आचार्य धर्म कहने लगे—

हे भव्यो ! यह संसार स्मशान की भांति सदैव अशुचिमय है उसमें मोह रूपी पिशाच निवास करता है, और कषाय रूप गिद्धों के समूह फिरते हैं। उसमें दुर्जय धन-तृष्णारूप शाकिनी सदैव घूमती रहती है और अति उग्र राग रूप अग्नि में अनेकों जनों के शरीर जलते हैं। दुर्द्धर काम विकार की ज्वालाओं से वह चारों ओर से भयंकर लगता है और प्रतिसमय प्रसरते हुए घनप्रद्वेष रूप धूम्र से दुष्प्रेक्ष्य हुआ है।

इसमें मिथ्यात्वरूप सर्प रहता है तथा अशुभ अध्यवसायरूप करक (घोर खोदे या बिच्छू) बसते हैं, वैसे ही स्नेहरूप स्तम्भ लेकर इसमें बहुत से भूत घूमते फिरते हैं। व इसमें जहां देखो वहां कलह कंकास रूप थालियों की खड़खड़ाहट होती है और अनेक जाति के उद्वेगजनक करुण रुदन के स्वर सुनाई देते हैं। तथा स्थान स्थान पर शुभ धन के भांडार रूप भस्म के ढेर हैं और कृष्णादिक अशुभ लेश्यावाली सुखगृद्धि रूप शियालिनी से यह विकराल लगता है।

अति दुस्सह अनेक आपत्तियों रूप शकुनिकाओं से यह भयानक है व इसमें कपटी दुर्जन रूप अरिष्ट (अशुभ सूचक चिह्न) स्थित हैं तथा इसमें अज्ञान रूप मातंग (चांडाल) रहते हैं। अतः इस संसार रूप स्मशान में विषय रूप विषम कीचड़ में फंस जाते हैं, उनको स्वप्न में भी सुख कहां से हो ?

जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूप सार सुभटों को चार दिशाओं में उत्तर साधक रूप से स्थापित कर सुसाधु की मुद्रा धारण कर, जिन-शासन रूप मण्डल में बैठकर, साहस रख, दो प्रकार की शिक्षारूप शिखावंध दे, मोहपिशाच आदि इष्ट में विघ्नकारियों को दूरकर, शान्त मन रख, इन्द्रियों का प्रचार रोककर एकाग्रता से सामाचारी रूप नवीन विचित्र पुष्पों से सिद्धान्त रूप मन्त्र का जप विधि पूर्वक करने में आवे तो सम्पूर्ण मनवांछित सुख प्राप्त होते हैं और उनका जाप बढ़ने बढ़ते परम निर्वृति (मुक्ति) मिलती है।

इस प्रकार के भावार्थ युक्त गुरुवचन सुनकर हरिवाहन राजा भयंकर स्मशान रूप संसार में वसते डरने लगा।

जिससे उसने भीम कुमार को राज्य देकर अनेक लोगों के

तब राजा ने उसको अपने मुकुट के अतिरिक्त शेष अलंकार देकर, अपने छड़ीदार को कहा कि—तूं सामन्त आदि लोगों को कह कि आगामी प्रातःकाल को कुमार के सन्मुख जाना संभव है। अतः बाजार सजवा रखो। तदनुसार उसने वैसी ही व्यवस्था कराई। प्रातःकाल हर्षित हो राजा सपरिवार कुमार के सन्मुख गया। तब आकाश में चन्द्र हो उस भांति कुमार को आकाश मार्ग से आता देखा। पश्चात् भीमकुमार ने विमान से उतर कर राजा को प्रणाम किया तथा माता आदिका व अन्यजनों का भी यथा योग्य (अभिवादन) किया। तदनन्तर पिता की आज्ञानुसार वह हाथी पर बैठा। इसी भांति बुद्धिल मन्त्री के कुमार ने भी अपने माता पिता आदि सर्व जनों को यथा योग्य किया। भीमकुमार ने प्रसन्न होकर उसने अपने पीछे बिठाया। पश्चात् पिता के साथ वह धवलगृह में पहुँचा।

भोजन करने के अनन्तर राजा ने मन्त्री कुमार को भीम का सर्व चरित्र पूछा तदनुसार उसने जो जैसा हुआ था वैसा ह कह सुनाया। इतने में हरिवाहन राजा को उद्यान पालकों हाथ जोड़ कर कहा कि—अरविन्द मुनीश्वर पधारे हैं। तब राज सपरिवार वहां आ गुरु को हर्ष-पूर्वक नमन करके उचित स्था पर बैठ गया। तब आचार्य धर्म कहने लगे—

हे भव्यो! यह संसार श्मशान की भांति सदैव अशुचिम है उसमें मोह रूपी पिशाच निवास करता है, और कषाय रू गिद्धों के समूह फिरते हैं। उसमें दुर्जय धन–तृष्णारूप शाकिनि सदैव घूमती रहती है और अति उग्र राग रूप अग्नि में अनेक जनों के शरीर जलते हैं। दुर्द्धर काम विकार की ज्वालाओं से वह चारों ओर से भयंकर लगता है और प्रतिसमय प्रसरते हुए धनप्रद्वेष रूप धूम्र से दुष्प्रेक्ष्य हुआ है।

इसमें मिथ्यात्वरूप सर्प रहता है तथा अशुभ अध्यवसायरूप करक (घोर खोदे वा विज्जू) बसते हैं, वैसे ही स्नेहरूप स्तम्भ लेकर इसमें बहुत से भूत घूमते फिरते हैं। व इसमें जहां देखो वहां कलह कंकास रूप थालियों की खड़खड़ाहट होती है और अनेक जाति के उद्वेगजनक करुण रुदन के स्वर सुनाई देते हैं। तथा स्थान स्थान पर गुप्त धन के भंडार रूप भस्म के ढेर हैं और कृष्णादिक अशुभ लेश्यावाली सुखगृद्धि रूप शियालिनी से यह विकराल लगता है।

अति दुस्सह अनेक आपत्तियों रूप शकुनिकाओं से यह भयानक है व इसमें कपटी दुर्जन रूप अरिष्ट (अशुभ सूचक चिह्न) स्थित हैं तथा इसमें अज्ञान रूप मातंग (चांडाल) रहते हैं। अतः इस संसार रूप स्मशान में विषय रूप विषम कीचड़ में फंस जाते हैं, उनको स्वप्न में भी सुख कहां से हो ?

जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूप सार सुभटों को चार दिशाओं में उत्तर साधक रूप से स्थापित कर सुसाधु की मुद्रा धारण कर, जिन-शासन रूप मण्डल में बैठकर, साहस रख, दो प्रकार की शिक्षारूप शिखाबंध दे, मोहपिशाच आदि दुष्ट विघ्नकारियों को दूरकर, शान्त मन रख, इन्द्रियों का प्रचार रोककर एकाग्रता से सामाचारी रूप नवीन विचित्र पुष्पों से सिद्धान्त रूप मन्त्र का जप विधि पूर्वक करने में आवे तो सम्पूर्ण मनवांछित सुख प्राप्त होते हैं और उनका जाप बढ़ने बढ़ने परम निर्वृति (मुक्ति) मिलती है।

इस प्रकार के भावार्थ युक्त गुरुवचन सुनकर हरिवाहन राजा भयंकर स्मशान रूप संसार में बसते डरने लगा।

साथ संसार रूप स्मशान को पार करने में समर्थ दीक्षा ग्रहण कर ली। वह राजर्षि एकादश अंग सीखकर, चिरकाल निर्मल चारित्र पालन कर सिद्धिपद को प्राप्त हुआ।

भीम राजा भी चिरकाल तक सैंकड़ों प्रकार से जिन शासन की उन्नति करता हुआ परहित करने में तत्पर रहकर नीति से राज्य का पालन करने लगा। उसने अन्त में संसार रूप कारागृह से उद्विग्न हो, पुत्र को राज्य पर स्थापित कर दीक्षा लेकर मुक्ति प्राप्त की। इस प्रकार भीमकुमार का चमत्कारिक वृत्तांत सुनकर हे पंडितों! तुम हर्ष से परहितार्थ करते हुए जैन मत से भावित रहो।

(इस प्रकार भीमकुमार की कथा पूर्ण हुई)

परहितार्थकारी नामक बीसवां गुण कहा; अब इक्कीसवें लब्धलक्ष्य गुण का फल से वर्णन करते हैं।

लक्खेइ लद्धलक्खो—सुहेण सयलंपि धम्मकरणिज्जं।
दक्खो सुसासणिज्जो तुरियं च सुसिक्खिओ होइ ॥२८॥

मूल का अर्थ—लब्धलक्ष्य पुरुष सुख से समस्त धर्म कर्त्तव्य जान सकता है वह चतुर होने से शीघ्र सुशिक्षित हो जाता है।

लक्ष रखे याने जाने—ज्ञानावरणी कर्म हलुआ होने से प्राप्त हुए के समान प्राप्त हुआ है लक्ष्य याने सीखने के योग्य अनुष्ठान जिसको वह लब्धलक्ष्य पुरुष सुख से याने बिना क्लेश से अर्थात् बिना कंटाले—सकल याने समस्त धर्मकृत्य चैत्यवन्दन गुरुवन्दन आदि–पूर्व भव में सीखा हुआ हो उस प्रकार सब शीघ्र जान सकता है।

कहा है कि--प्रत्येक जन्म में जीवों को कुछ शुभाशुभ कार्य का अभ्यास किया हुआ हो, वह उसी अभ्यास के योग से वहां सुखपूर्वक सीखा जा सकता है। इसीसे दक्ष याने चालाक होने से सुशासनीय (सुख से शिक्षित हो ऐसा) होने से त्वरित याने अल्प काल में सुशिक्षा का पारगामी होता है। नागार्जुन योगी के समान-

नागार्जुन की कथा इस प्रकार है-

गांधी के बाजार के समान सुगंधित (सुप्रशस्त) पाटलिपुत्र नामक नगर था। वहां मुरुंड नामक राजा था। उसके चरण कमलों में लाखों ठाकुर नमते थे। यहां काम को जीतने वाले और बहुत से आगम को शुद्ध रीति से पढ़े हुए संगमनामक महान् आचार्य पापसमूह को दूर करते हुए विचरते२ आ पहुंचे। उनके व्याकरण के समान गुण वृद्धि भाव वाला (वृद्धि पाते हुए गुणवाला) सत्क्रिया से सुशोभित और रुचिर शब्द वाला एक शिष्य था। वह बालक होते हुए भी पूर्णवयस्कोचित बुद्धिरूप गुणरत्न का रोहणाचल था। वह एक समय चतुर्थ रसवाली याने खट्टी राब लाकर गुरु से इस प्रकार बोला-

ताम्र समान रक्त नेत्र वाली और पुष्प समान दांत वाली नवयुवती वधू ने कड़छी से यह ताजा व नवीन चावल की कांजी का अपुष्पित आम्ल (खट्टा) मुझे दिया है। तब गुरुने कहा कि-हे वत्स ! तूं ऐसा बोलता है जिससे प्रतीत होता है कि तूं प्रलिप्त (पलित) हुआ है। तब वह बोला कि-मुझे आचार सिखाने की कृपा करिए। गुरु ने वैसा ही किया, तथापि लोगों ने उसका नाम पालितक रख दिया। वह बहुतसी सिद्धियों वाला व वादी हुआ। जिससे गुरु ने उसे अपने पद पर स्थापित किया।

वे किसी समय किसी काम के हेतु वसति के वाहर रुके हुए थे। इतने में वहां कोई वादी आ पहुँचे। वे उन्हें आचार्य का स्थान पूछने लगे। तब इन्होंने उनको टेढ़ा व लम्बा मार्ग वताया कि जिससे वे विलम्ब से पहुंचें और स्वयं उनके पहिले ही वसति में आ पहुँचे। वहां आकर कपट करके किवाड़ वन्द करके सो रहे। इतने में उक्त वादी आकर पूछने लगे कि-पालित्तक सूरि कहां हैं? तो शिष्य वोले कि—गुरु सुख पूर्वक सो रहे हैं। तव उन्होंने उपहास करने के हेतु मुर्गे का शब्द किया। तो गुरु ने विल्ली का शब्द किया। तव वे वोले कि—हे मुनीश्वर! आपने हम सव को लीला वता कर जीत लिया है। अव दर्शन दीजिए। तव वे शीघ्र उठे। उन्हें वहुत छोटे देखकर उनको जीतने के लिये वादी इस प्रकार कहने लगे-

हे पालित्तक! वोलो, सारी पृथ्वी में भ्रमण करते तुमने अग्नि को चंदन रस के समान शीतल कहीं भी देखी है अथवा सुनी है?

श्री कालिक नामक सूरि जो कि नमि विनमि के वंश में रत्न समान हुए। उनके अनन्तर उनके शिष्य वृद्धवादी हुए। तत्पश्चात् उनके शिष्य सिद्धसेन हुए जो कि ब्राह्मण कुल में तिलक समान थे और वर्तमान में कपट निद्रा धारण करने से वास्तविक कपट रूप जगत् में विख्यात ये संगमसूरि हुए और उनका शिष्य मैं पादलिप्त हुआ हूं।

इस प्रकार जिन प्रवचन रूप नभस्तल में चन्द्र समान उत्तम वादी व कवि ऐसे अपने पूर्व पुरुषों का वर्णन करके पादलिप्त वोले कि—अपयश का अभिघात लगने से वचे हुए शुद्धचित्त पुरुष को अग्नि उठाने में चन्दन के रस समान शीतल लगती

है। इस प्रकार निर्वाण के बाद में वादियों को जीतने के अनन्तर गुरु ने उनके समक्ष नव-रस-पूर्ण व तरंग समान आगे बढ़ती हुई कथा कह सुनाई। व मुरुंड राजा के बीमार होने पर उसके मस्तक की वेदना उक्त आचार्य ने शमन कर दी। और ऐसी कविता करी है कि वैसी आज तक अन्य कवि न कर सके।

यथा:—ऊँचे स्वर्ण रूप नाल वाले, पर्वत रूपी केसरा वाले और दिशा के शुभ्र रूप दल वाले (पंखड़ी वाले) पृथ्वी रूप पद्म में काल रूपी भ्रमर, देखो मनुष्य रूपी मकरंद पीता है। तथा उक्त आचार्य ने प्रश्नलक्ष्य से जो गूढ़ सूत्र आदि अनेक भाव ज्ञान लिखे हैं, वे प्रबंध ग्रन्थों से जान लेना चाहिये। उक्त पादलिप्त सूरि अष्टमी आदि पर्वों में अपने चरणों में लेप करके गिरनार व शत्रुंजय पर आकाश मार्ग से देव-वन्दन करने को जाया करते थे।

इधर सौराष्ट्र देश में सुवर्ण सिद्धि से ख्याति पाया हुआ और सर्व विषयों में ध्यान देने वाला नागार्जुन नामक योगी था। वह पादलिप्त सूरि को देखकर बोला कि-आप मुझे आपकी पादलेप की सिद्धि बताइये और मेरी यह सुवर्ण सिद्धि मैं आपको देता हूँ, तब सूरि ने उसे उत्तर दिया कि—

हे कंचन सिद्ध योगी! मैं अकिंचन हूँ, तो भला मुझे इस पाप पूर्ण सुवर्ण-सिद्धि से क्या कार्य है व इससे क्या लाभ है। तथा तुझे पादलेप की सिद्धि देना यह सावद्य कार्य है। अतः वह भी मैं दे नहीं सकता, क्योंकि-हे भद्र! मुनियों को सावद्य का उपदेश मात्र भी करना उचित नहीं।

तब वह योगी मनमलीन होकर किन्तु भलीभांति लक्ष्य रखकर श्रावक की चैत्यवन्दन, गुरुवन्दन आदि अनेक क्रियाएँ

खने लगा। पश्चात् तीर्थवन्दन को आये हुए सूरि के चरण
मल में चतुराई से सर्व श्रावकों के भांति रहकर वन्दन करने
ा। वहां गुरु के चरण में अपना सिर रखकर उन को प्रणाम
ने लगा। जिससे उसने लक्ष्य रखकर गंध द्वारा एक सौ सात
षधियां पहिचान लीं।

पश्चात् उन औषधियों द्वारा उसने अपने पैरों में लेप किया।
के योग से वह आकाश में मुर्गे की भांति उड़ने व गिरने
ा। इतने में पुनः गुरु वहां आये। उन्होंने उसको यह गति
खकर पूछा तो उसने कहा कि– हे प्रभु! यह आपके चरण
प्रसाद है मैंने उनकी गंध लेकर इतना ज्ञात किया है। पश्चात्
वोला कि–हे प्रभु! कृपाकर मुझे सम्यक् योग वताइए ताकि
कृतार्थ होऊं, क्योंकि–गुरु के उपदेश विना सिद्धियां प्राप्त
हीं होती।

तब आचार्य सोचने लगे कि ओहो! इसका लब्धलक्ष्यपन
सा उत्तम है कि इसने सहज ही में धर्म तथा औषधियों का
ान प्राप्त कर लिया। इसलिये यह अन्य (विषय) भी सुख
ंक जान सकेगा। यह सोचकर सूरि वोले कि-जो तूं मेरा
ष्य हो जावे तो मैं तुझे योग वताऊं। तव वह वोला कि–हे
थ! मैं यतिधर्म का भार उठाने को समर्थ नहीं किन्तु हे
ु! आपसे गृहस्थ धर्म अंगीकार करूंगा। ठीक, तो ऐसा ही
ो यह कह आचार्य ने उससे सम्यक्त्व पूर्वक निर्मल गृहस्थ–
र्म स्वीकृत कराया और वाद में कहा कि–

साठी चांवलों के पानी से तेरे पगों में लेप कर। यह सुन
सने वैसा ही करने पर उसको आकाश में गमन करने की
ब्धि प्राप्त हुई। उस लब्धि के प्रभाव से वह गिरनार आदि

स्थलों में जाकर जिनेन्द्र के बिम्बों को वन्दन किया करता था तथा उसने पादलिप्त सूरि के नाम पर पालीताणा नामक नगर बसाया। तथा गिरनार के समीप घोड़ा जा सके वैसी सुरंग बनवाई तथा नेमीश्वर भगवान की भक्ति से उसने दशार मंडप नामक चैत्य आदि बनवाये।

इस प्रकार गृहस्थ धर्म का पालन कर तथा जिन-शासन की उन्नति करके वह इस लोक व परलोक के कल्याण का पात्र हुआ। इस भांति लब्धलक्ष्य गुण वाले नागार्जुन योगी को प्राप्त हुआ फल भलीभांति सुन कर समस्त गुणों में प्रधानभूत इस गुण में हे भव्य जनों, प्रयत्न कर्ता होओ।

इस प्रकार नागार्जुन की कथा पूर्ण हुई है।

लब्धलक्ष्यपन रूप इक्कीसवां गुण कहा। अब निगमन करते हैं—

एए इगवीस गुणा सुयाणुसारेण किंचि वक्खाया।
अरिहंति धम्मरयणं घित्तुं एएहि संपन्ना ॥२९॥

मूल का अर्थ—इन इक्कीस गुणों का शास्त्र के अनुसार किंचित् वर्णन किया (क्योंकि) जो इन गुणों से युक्त होता है, वह धर्मरत्न ग्रहण करने के योग्य होता है। ये पूर्वोक्त स्वरूप वाले इक्कीस गुण श्रुतानुसार अर्थात् शास्त्र में जिस भांति प्राप्त होवे उसी भांति (संपूर्णतः तो नहीं किन्तु) स्वरूप से तथा फल से प्ररूपित किये। किस लिये सो कहते हैं:—

इन अभी कहे हुए गुणों से जो सम्पन्न याने युक्त अथवा सम्पूर्ण हो वह योग्यता पूर्वक धर्म रत्न को (पाने के लिये) योग्य होता है। न कि वसंत राजा के समान राजलीला ही को पाता है, यह भाव है। क्या एकान्त से इतने गुणों से संपन्न होवें वे ही धर्म के अधिकारी हैं अथवा कुछ अपवाद भी है ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

पायद्धगुणविहीणा एएसिं मज्झिमा वरा नेया।
इत्तो परेण हीणा दरिद्दपाया मुणेयव्वा ॥३०॥

मूल का अर्थ–इन गुणों के चतुर्थ भाग से हीन होवे वे मध्यम हैं और अर्द्ध भाग से हीन हो वे जघन्यपात्र हैं किन्तु इससे अधिक हीन हों वे दरिद्रप्रायः अर्थात् अयोग्य हैं।

यहां अधिकारी तीन प्रकार के हैं:—उत्तम, मध्यम व जघन्य उसमें पूरे गुण वाले हो वे उत्तम हैं। पाद याने चतुर्थ भाग और अर्द्ध याने आधा भाग गुण शब्द प्रत्येक में लगाना चाहिये। जिससे यह अर्थ है कि चतुर्थ भाग अथवा अर्थ भाग के बराबर गुणों से जो हीन याने विकल उक्त (कहे हुए) गुणों में से हों वे क्रमशः मध्यम व जघन्य हैं अर्थात् चतुर्थ भाग हीन सो मध्यम और अर्द्ध हीन सो जघन्य है। उससे भी जो हीनतर हो उन्हें कैसे मानना सो कहते हैं। इससे अधिक याने अर्द्ध भाग से भी अधिक गुणों से जो हीन याने रहित हों वे दरिद्र-प्रायः याने भिक्षुक के समान हैं। जैसे दरिद्री लोग उदर पोषण की चिन्ता ही में व्याकुल रहने से रत्न खरीदने का मनोरथमात्र भी नहीं कर सकते, वैसे ही वे भी धर्म की अभिलाषामात्र भी नहीं कर सकते।

धम्मरयणत्थिणा तो, पढमं एयज्जणंमि जइयव्वं ।
जं सुद्धभूमिगाए, रेहइ चित्तं पवित्तं पि ॥३१॥

ऐसा है तो क्या करना चाहिये ? सो कहते हैं—

अतः धर्मरत्नार्थियों ने प्रथम इन गुणों को उपार्जन करने का यत्न करना चाहिये, क्योंकि पवित्र चित्र भी शुद्धभूमिका ही में शोभता है। पूर्वोक्त स्वरूपवान धर्मरत्न उसके अर्थियों ने याने उसके प्राप्त करने के इच्छुकों ने इस कारण से प्रथम याने आदि में इन गुणों के अर्जन में याने वृद्धि करने में यत्न करना चाहिये क्योंकि वैसा किये विना धर्म प्राप्ति नहीं होती। यही हेतु कहते हैं—क्योंकि शुद्धभूमिका में याने कि प्रभास नामक चित्रकार की सुधारी हुई भूमि के समान निर्मल आधार ही में चित्र याने चित्रकर्म उत्तम किया हुआ हो वह भी शोभा देने लगता है।

प्रभास चित्रकार की कथा इस प्रकार है:—

यहां जैसे नाग व पुन्नाग नामक वृक्षों से कैलाश पर्वत के शिखर शोभते हैं। वैसे ही नाग (हाथी) और पुन्नाग (महान् पुरुषों) से सुशोभित और अतिमनोहर धवलगृह वाला साकेत नामक नगर था। वहां शत्रु रूपी वृक्षों को उखाडने में महाबल (पवन) समान महाबल नामक राजा था। वह एक समय सभा में बैठा हुआ, दूत को पूछने लगा कि—

हे दूत ! मेरे राज्य में राज्यलीलोचित कौनसा काम नहीं है ? दूत बोला कि—हे स्वामी ! एक चित्रसभा के अतिरिक्त अन्य सब हैं। क्योंकि नयन-मनोहर अनेक चित्र देखने से राजा लोग स्पष्टतः भांति-भांति के कौतुक प्राप्त कर सकते हैं। यह सुन महान् कौतूहली (शौकीन) राजा ने प्रधान मन्त्री को आज्ञा दी

कि शीघ्र ही चित्रसभा बनवाओ।

तब उसने अतिविशाल (महान्) शाल (वृक्ष) वाली, बहुत से शकुन (पक्षियों) से शोभती, और शुभ छाया वाली उद्यान भूमि के समान विशाल शाला (परशाल) वाली, बहुशकुन (मंगल) से अलंकृत और पवित्र छाय (छज्जे) वाली महा सभा तैयार कराई। पश्चात् राजा ने चित्रकारी में सिद्ध-हस्त नगर के मुख्य चित्रकार विमल व प्रभास को बुलाया। उनको आधी आधी सभा बांटकर दे दी और बीच में पर्दा बंधाकर निम्नानुसार आज्ञा दी।

देखो! तुमको एक दूसरे का कार्य कभी न देखना चाहिये व अपनी २ मति के अनुसार यहां चित्र बनाना चाहिये।

मैं तुम्हारी योग्यता के अनुसार तुमको इनाम दूंगा। राजा के यह कहने से वे परस्पर स्पर्धा से बराबर काम करने लगे। इस तरह छः मास व्यतीत हो गये। तब राजा उत्सुक हो उनको पूछने पर विमल बोला कि-हे देव! मेरा भाग मैंने तैयार कर लिया है। तब मेरु के समान उस भाग को सुवर्ण से सुशोभित और विचित्रता से चित्रित किया हुआ देखकर राजा ने प्रसन्न हो उसे महान् पारितोषिक दिया।

प्रभास को पूछने पर वह बोला कि-मैं ने तो अभी चित्र निकालना प्रारम्भ भी नहीं किया क्योंकि अभी तक तो मैंने भूमि ही की सुधारणा की है।

राजा ने कहा कि-ऐसा तूं ने क्या भूमि कर्म किया है। यह कह पर्दा उठाया तो वहां तो अधिक सुन्दर चित्रकारी देखी। तब राजा ने उसको कहा कि-अरे! तूं हम को भी ठगता है।

दूसरों को भी नहीं ठगना चाहिये तो फिर स्वामी को ठगना यह कैसी बात है? तब वह बोला–हे देव! यह तो प्रतिबिम्ब का संक्रमण हुआ है। यह कहकर उसने परदा नीचे किया तो राजा ने वहां सामान्य भूमि ही देखी।

तब विस्मित होकर राजा ने पूछा कि–ऐसी भूमि किस लिये बनाई है? तब प्रभास बोला कि–हे देव! ऐसी भूमि में एक तो चित्र विशेष स्थिर रहते हैं। दूसरे रंगों की कांति अधिक स्फुरित होती है। तीसरे चित्रित आकार अधिक शोभते हैं और चौथे दर्शकों को अधिकाधिक भावोल्लास होता है। यह सुन उसके विवेक पर प्रसन्न हुए राजा ने उसे दुगुना इनाम दिया व साथ ही कहा कि अब मेरी इस वर्तमान चित्रों वाली चित्र सभा को जैसी है वैसी ही रहने दे, कि जिससे सब से अपूर्व प्रसिद्धि होगी। इस बात का उपनय यहां इस प्रकार है।

साकेतपुर सो संसार है। राजा सो आचार्य है। सभा सो मनुष्य गति है। चित्रकार सो भव्य जीव है और चित्रसभा की भूमि सो आत्मा है। वैसे ही भूमि परिकर्म सो सद्गुण हैं और चित्र सो धर्म है। आकार सो व्रत हैं। रंग सो नियम हैं और भावोल्लास सो जीव का वीर्य है। इस प्रकार प्रभास नामक चित्रकार के समान पंडितों ने अपनी आत्मभूमि निर्मल करना चाहिये, कि जिससे उसमें उज्वल धर्मरूपी विचित्र चित्र अनुपम शोभा पा सकें।

इस भांति प्रभास की कथा है।

धर्म दो प्रकार का है:—श्रावक का धर्म और यति का धर्म, श्रावक धर्म के पुनः दो भेद हैं। अविरत और विरत। अविरत

संइ एयंमि गुणोहे संजायइ भावसावगत्तं पि, ।
तस्स पुण लक्खणाइं एयाइं भणंति सुहगुरुणो ॥३२॥

भावश्रावकत्व भी ये गुणसमूह होवें तभी प्राप्त होता है। इसके लक्षण शुभगुरु इस प्रकार कहते हैं। भावयतित्व तो दूर रहा परन्तु भावश्रावकत्व भी उक्त अनंतर गुणसमूह के होने पर याने विद्यमान हो तभी संभव है।

शंका—क्या श्रावकत्व अन्य प्रकार से भी होता है कि जिससे ऐसा कहते हो कि भावश्रावकत्व ?।

उत्तर-हां यहां जिनागम में सकल पदार्थ चार प्रकार के ही हैं। कहा है कि "नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से प्रत्येक पदार्थ का न्यास होता है।

यथा—नामश्रावक याने किसी भी सचेतन अचेतन पदार्थ का श्रावक नाम रखना सो। स्थापनाश्रावक चित्र या पुस्तक में रहता है। द्रव्यश्रावक ज्ञशरीर भव्यशरीर व्यतिरिक्त माने तो जो देव गुरु की श्रद्धा से रहित हो सो अथवा आजीविकार्थ श्रावक का आकार धारण करने वाला हो सो।

भावश्रावक तो—"श्रा याने जो श्रद्धालुत्व रखे व शास्त्र सुने। व याने पात्र में दान करे वा दर्शन को अपनावे। क याने पाप काटे व संयम करे उसे विचक्षण जन श्रावक कहते हैं।"

इत्यादि श्रावक शब्द के अर्थ को धारण करने वाला और विधि के अनुसार श्रावकोचित व्यापार में तत्पर रहने वाला इसी ग्रन्थ में जिसका आगे वर्णन किया जावेगा सो होता है व उसी का यहां अधिकार है। शेष तीन तो ऐसे वैसे ही हैं (सारांश कि यहां काम के नहीं)।

शंका-आगम में तो श्रावक के भेद औरप्रकार से कहे हुए , क्योंकि श्री स्थानांग सूत्र में श्रमणोपासक चार प्रकार के कहे —यथा-माता पिता समान, भ्राता समान, मित्र समान और पत्नी समान, अथवा दूसरे प्रकार से चार भेद हैं—यथा-दर्पण मान, ध्वजा समान, स्थाणु समान, व खरंट समान। ये सब भेद साधु आश्रित श्रावक कैसे ? उसके लिये कहे हैं। अब इन व भेदों का यहां कहे हुए चार भेदों में से किस भेद में समावेश होता है ?

उत्तर—व्यवहारनय मत से ये सब भावश्रावक हैं, क्योंकि व्यवहार वैसा कराता है।

निश्चयनय के मत से सपत्नी व खरंट समान मिथ्यादृष्टि प्रायः जो होते हैं वे द्रव्यश्रावक हैं और शेष भावश्रावक है कारण कि इन आठों भेद का स्वरुप आगम में इस प्रकार वर्णित किया है।

जो यति के काम की सम्हाल ले, भूल देखे तो भी प्रीति न छोड़े और यतिजनों का एकान्त भक्त हो सो माता समान श्रावक है। जो हृदय में स्नेहवान् होते भी मुनियों के विनय कर्म में मंद आदरवाला हो वह भाई समान है, वह मुनि को पराभव होने से शीघ्र सहायक होता है। जो मानी होकर, कार्य में न पूछते जरा अपमान माने और अपने को मुनियों का वास्तविक स्वजन समझे वह मित्र समान है। जो स्तब्ध होकर छिद्र देखता रहे, वार २ भूल चूक कहा करे वह श्रावक सपत्नी समान है वह साधुओं को तृण समान समझता है।

दूसरे चतुष्क में कहा है कि-गुरु का कहा हुआ सूत्रार्थ

जिसके मन में ठीक तरह से बैठ जाय वह दर्पण के समान सुश्रावक शास्त्र में कहा गया है ।

जो पवन से हिलती हुई ध्वजा के समान मूढ़ जनों से भ्रमित हो जावे वह गुरु के वचन पर अपूर्ण निश्चय वाला होने से पताका समान है । जो गीतार्थ के समझाने पर भी लिये हुए हठ को नहीं छोड़ता है वह स्थाणु के समान है, किन्तु वह भी मुनिजन पर अद्वेषी होता है । जो गुरु के सत्य कहने पर भी कहता है कि, तुम तो उन्मार्ग बताते हो, निह्नव हो, मूर्ख हो, मंदधर्मी हो इस प्रकार गुरु को अपशब्द कहता है वह खरंट समान श्रावक है । जैसे गीला अशुचि द्रव्य उसको छूने वाले मनुष्य को खरड़ता है ऐसे ही जो शिक्षा देने वाले को ही खरड़ता है (दूषित करता है) वह खरंट कहलाता है ।

खरंट व सपत्नी समान श्रावक निश्चय से तो मिथ्यात्वी है, तथापि व्यवहार से श्रावक माना जाता है, क्योंकि वह जिन-मन्दिर आदि में आता जाता है । यह अन्य प्रसंग की बात अब बन्द करते हैं उक्त भावश्रावक के लक्षण याने लिंग शुभ गुरु याने संविग्न आचार्य ने याने आगे कहे जायेंगे सो कहते हैं ।

इस प्रकार से श्री-देवेन्द्रसूरिविरचित और
चारित्रगुण रूप महाराज के प्रसाद रूप
[illegible] की टीका का पीठाधिकार समाप्त हुआ ।

प्रथम भाग संपूर्ण

के शीघ्र ही चित्रसभा बनवाओ।

तब उसने अतिविशाल (महान्) शाल (वृक्ष) वाली, हुन से शकुन (पक्षियों) से शोभती, और शुभ छाया वाली द्यान भूमि के समान विशाल शाला (पटशाल) वाली, बहुशकुन मंगल) से अलंकृत और पवित्र छाय (छज्जे) वाली महा भा तैयार कराई। पश्चात् राजा ने चित्रकारी में सिद्ध-हस्त गर के मुख्य चित्रकार विमल व प्रभास को बुलाया। उनको ाधी आधी सभा बांटकर दे दी और बीच में पर्दा बंधाकर नेम्नानुसार आज्ञा दी।

देखो! तुमको एक दूसरे का कार्य कभी न देखना चाहिये । अपनी २ मति के अनुसार यहां चित्र बनाना चाहिये।

मैं तुम्हारी योग्यता के अनुसार तुमको इनाम दूंगा। राजा के यह कहने से वे परस्पर स्पर्धा से बराबर काम करने लगे। इस तरह छः मास व्यतीत हो गये। तब राजा उत्सुक हो उनको पूछने पर विमल बोला कि-हे देव! मेरा भाग मैंने तैयार कर लेया है। तब मेरु के समान उस भाग को सुवर्ण से सुशोभित और विचित्रता से चित्रित किया हुआ देखकर राजा ने प्रसन्न हो उसे महान् पारितोषिक दिया।

प्रभास को पूछने पर वह बोला कि-मैं ने तो अभी चित्र निकालना प्रारम्भ भी नहीं किया क्योंकि अभी तक तो मैंने भूमि ही की सुधारणा की है।

राजा ने कहा कि-ऐसा तूं ने क्या भूमि कर्म किया है। यह कह पर्दा उठाया तो वहां तो अधिक सुन्दर चित्रकारी देखी। तब राजा ने उसको कहा कि-अरे! तूं हम को भी ठगता है।

इन अभी कहे हुए गुणों से जो सम्पन्न याने युक्त अथवा सम्पूर्ण हो वह योग्यता पूर्वक धर्म रत्न को (पाने के लिये) योग्य होता है। न कि वसंत राजा के समान राजलीला ही को पाता है, यह भाव है। क्या एकान्त से इतने गुणों से संपन्न होवें वे ही धर्म के अधिकारी हैं अथवा कुछ अपवाद भी है ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

पायद्धगुणविहीणा एएसिं मज्झिमा वरा नेया।
इत्तो परेण हीणा दरिद्दपाया मुणेयव्वा ॥३०॥

मूल का अर्थ—इन गुणों के चतुर्थ भाग से हीन होवें वे मध्यम हैं और अर्द्ध भाग से हीन हो वे जघन्यपात्र हैं किन्तु इससे अधिक हीन हों वे दरिद्रप्रायः अर्थात् अयोग्य हैं।

यहां अधिकारी तीन प्रकार के हैः—उत्तम, मध्यम व जघन्य उसमें पूरे गुण वाले हो वे उत्तम हैं। पाद याने चतुर्थ भाग और अर्द्ध याने आधा भाग गुण शब्द प्रत्येक में लगाना चाहिये। जिससे यह अर्थ है कि चतुर्थ भाग अथवा अर्थ भाग के बराबर गुणों से जो हीन याने विकल उक्त (कहे हुए) गुणों में से हों वे क्रमशः मध्यम व जघन्य हैं अर्थात् चतुर्थ भाग हीन सो मध्यम और अर्द्ध हीन सो जघन्य है। उससे भी जो हीनतर हो उन्हें कैसे मानना सो कहते हैं। इससे अधिक याने अर्द्ध भाग से भी अधिक गुणों से जो हीन याने रहित हों वे दरिद्र-प्रायः याने भिक्षुक के समान हैं। जैसे दरिद्री लोग उदर पोषण की चिन्ता ही में व्याकुल रहने से रत्न खरीदने का मनोरथमात्र भी नहीं कर सकते, वैसे ही वे भी धर्म की अभिलाषामात्र भी नहीं कर सकते।

कि शीघ्र ही चित्रसभा बनवाओ।

तब उसने अतिविशाल (महान्) शाल (वृक्ष) वाली, बहुत से शकुन (पक्षियों) से शोभती, और शुभ छाया वाली उद्यान भूमि के समान विशाल शाला (परशाल) वाली, बहुशकुन (मंगल) से अलंकृत और पवित्र छाय (छज्जे) वाली महा सभा तैयार कराई। पश्चात् राजा ने चित्रकारी में सिद्ध-हस्त नगर के मुख्य चित्रकार विमल व प्रभास को बुलाया। उनको आधी आधी सभा बांटकर दे दी और बीच में पर्दा बंधाकर निम्नानुसार आज्ञा दी।

देखो ! तुमको एक दूसरे का कार्य कभी न देखना चाहिये र अपनी २ मति के अनुसार यहां चित्र बनाना चाहिये।

दूसरों को भी नहीं ठगना चाहिये तो फिर स्वामी को ठगना यह कैसी बात है? तब वह बोला–हे देव! यह तो प्रतिबिम्ब का संक्रमण हुआ है। यह कहकर उसने परदा नीचे किया तो राजा ने वहां सामान्य भूमि ही देखी।

तब विस्मित होकर राजा ने पूछा कि–ऐसी भूमि किस लिये बनाई है? तब प्रभास बोला कि–हे देव! ऐसी भूमि में एक तो चित्र विशेष स्थिर रहते हैं। दूसरे रंगों की कांति अधिक स्फुरित होती है। तीसरे चित्रित आकार अधिक शोभते हैं और चौथे दर्शकों को अधिकाधिक भावोल्लास होता है। यह सुन उसके विवेक पर प्रसन्न हुए राजा ने उसे दुगुना इनाम दिया व साथ ही कहा कि अब मेरी इस वर्तमान चित्रों वाली चित्र सभा को जैसी है वैसी ही रहने दे, कि जिससे सब से अपूर्व प्रसिद्धि होगी। इस बात का उपनय यहां इस प्रकार है।

साकेतपुर सो संसार है। राजा सो आचार्य है। सभा सो मनुष्य गति है। चित्रकार सो भव्य जीव है और चित्रसभा की भूमि सो आत्मा है। वैसे ही भूमि परिकर्म सो सद्गुण हैं और चित्र सो धर्म है। आकार सो व्रत हैं। रंग सो नियम हैं और भावोल्लास सो जीव का वीर्य है। इस प्रकार प्रभास नामक चित्रकार के समान पंडितों ने अपनी आत्मभूमि निर्मल करना चाहिये, कि जिससे उसमें उज्वल धर्मरूपी विचित्र चित्र अनुपम शोभा पा सकें।

इस भांति प्रभास की कथा है।

धर्म दो प्रकार का है:—श्रावक का धर्म और यति का धर्म, श्रावक धर्म के पुनः दो भेद हैं। अविरत और विरत। अविरत

जइ एएहिं गुणेहिं संजायइ भावसावगत्तं पि, ।
तस्स पुण लक्खणाइं एयाइं भणंति सुहगुरुणो ॥३२॥

भावश्रावकत्व भी ये गुणसमूह होवें तभी प्राप्त होता है। इसके लक्षण शुभगुरु इस प्रकार कहते हैं। भावयतित्व तो दूर रहा परन्तु भावश्रावकत्व भी उक्त अनन्तर गुणसमूह के होने पर याने विद्यमान हो तभी संभव है।

शंका—क्या श्रावकत्व अन्य प्रकार से भी होता है कि जिससे ऐसा कहते हो कि भावश्रावकत्व ? ।

उत्तर—हां यहां जिनागम में सकल पदार्थ चार प्रकार के ही हैं। कहा है कि "नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से प्रत्येक पदार्थ का न्यास होता है।

यथा—नामश्रावक याने किसी भी सचेतन अचेतन पदार्थ का श्रावक नाम रखना सो। स्थापनाश्रावक चित्र या पुस्तक में रहता है। द्रव्यश्रावक ज्ञशरीर भव्यशरीर व्यतिरिक्त माने तो जो देव गुरु की श्रद्धा से रहित हो सो अथवा आजीविकार्थ श्रावक का आकार धारण करने वाला हो सो।

भावश्रावक तो—"श्रा याने जो श्रद्धालुत्व रखे व शास्त्र सुने। व याने पात्र में दान करे वा दर्शन को अपनावे। क याने पाप काटे व संयम करे उसे विचक्षण जन श्रावक कहते हैं।"

इत्यादि श्रावक शब्द के अर्थ को धारण करने वाला और विधि के अनुसार श्रावकोचित व्यापार में तत्पर रहने वाला इसी ग्रन्थ में जिसका आगे वर्णन किया जावेगा सो होता है व उसी का यहां अधिकार है। शेष तीन तो ऐसे वैसे ही हैं (सारांश कि यहां काम के नहीं)।

शंका—आगम में तो श्रावक के भेद औरप्रकार से कहे हुए हैं, क्योंकि श्री स्थानांग सूत्र में श्रमणोपासक चार प्रकार के कहे हैं—यथा—माता पिता समान, भ्राता समान, मित्र समान और सपत्नी समान, अथवा दूसरे प्रकार से चार भेद हैं—यथा—दर्पण समान, ध्वजा समान, स्थाणु समान, व खरंट समान। ये सब भेद साधु आश्रित श्रावक कैसे? उसके लिये कहे हैं। अब इन सब भेदों का यहां कहे हुए चार भेदों में से किस भेद में समावेश होता है?

उत्तर—व्यवहारनय मत से ये सब भावश्रावक हैं, क्योंकि व्यवहार वैसा कराता है।

निश्चयनय के मत से सपत्नी व खरंट समान मिथ्यादृष्टि प्राय: जो होते हैं वे द्रव्यश्रावक हैं और शेष भावश्रावक हैं कारण कि इन आठों भेद का स्वरूप आगम में इस प्रकार वर्णित किया है।

जो यति के काम की सम्हाल ले, भूल देखे तो भी प्रीति न तोड़े और यतिजनों का एकान्त भक्त हो सो माता समान श्रावक है। जो हृदय में स्नेहवान होते भी मुनियों के विनय कर्म में मंद आदर वाला हो वह भाई समान है, वह मुनि का पराभव होने में [illegible] सहायक होता है। जो मानी होकर, कार्य में न पूछें तो अपमान माने और अपने को मुनियों का स्वाभाविक स्वजन माने, वह मित्र समान है। जो स्तब्ध होकर छिद्र देखता रहे [illegible] कहा करे वह श्रावक सपत्नी समान है वह [illegible] तृण समान गिनता है।

[illegible] कि गुरु का कहा हुआ सूत्र